गाँधी मार्ग

मई-जून 2020

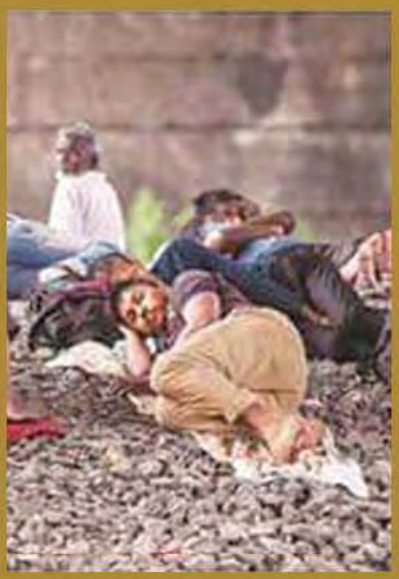

कोरोना काल

सत्यमेव जयते
राजस्थान सरकार

#राजस्थान_सतर्क_है

''सभी की सुरक्षा के लिए राज्य में आगन्तुक हैल्थ प्रोटोकॉल की पालना करें''
अशोक गहलोत, मुख्यमंत्री

राजस्थान आने वाले तथा उनके स्थानीय परिजन ध्यान दें

- राज्य में आने वाले लोगों को आने से पहले ई-मित्र (eMitra) मोबाइल ऐप अथवा www.emitra.rajasthan.gov.in पोर्टल पर राजस्थान आने के लिए अपनी यात्रा के साधन जैसे- हवाई/रेल/सड़क मार्ग, तिथि, समय, होम/संस्थागत क्वारंटीन विकल्प एवं स्थान संबंधी सूचना देनी होगी। जिससे उन्हें जरूरत होने पर तत्काल चिकित्सकीय सहायता दी जा सके।
- विदेश से आने वालों को पहले 7 दिन तक भुगतान आधारित संस्थागत क्वारंटीन तथा अगले 7 दिन होम क्वारंटीन में रहना अनिवार्य है।
- अन्य राज्यों से आने वाले आगन्तुकों को घर पर सुविधा होने पर 14 दिन के लिए होम क्वारंटीन अन्यथा संस्थागत क्वारंटीन में रहना अनिवार्य है।

अन्य राज्यों से 7 दिन से कम समय के लिए आने वालों के लिए सूचना

- आगमन से 2 दिन पहले करवाये गये कोरोना टेस्ट की नेगेटिव रिपोर्ट साथ लाने पर होम क्वारंटीन जरूरी नहीं होगा तथा वापसी यात्रा भी अनुमत रहेगी।
- जिन्होंने राजस्थान आने से पहले टेस्ट नहीं करवाया है उन्हें आने पर तत्काल टेस्ट कराना होगा एवं रिपोर्ट आने तक होम क्वारंटीन में रहना होगा। रिपोर्ट नेगेटिव आने पर क्वारंटीन आवश्यक नहीं होगा एवं वह अपना कार्य पूर्ण कर वापस लौट सकेंगे।
- होम क्वारंटीन निर्देशों का उल्लंघन करने वालों को संस्थागत क्वारंटीन में रखा जाएगा एवं कानूनी कार्यवाही भी की जाएगी।

राजस्थान से बाहर के लिए हैल्पलाइन 18001806128	राज्य हैल्पलाइन 181

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, राजस्थान

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 62, अंक 3, मई-जून 2020

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1.	मैं गांव हूं!	सर्वेश कुमार शुक्ला	4
2.	हमारी शुभकामना!		6
3.	मैं कौन?	'सचेत'	8
4.	पुतले हम माटी के	सोपान जोशी	11
5.	प्लेग!	गांधीजी	31
6.	हम और हमारे मजदूर	गांधीजी	37
7.	किसके हैं ये प्रवासी मजदूर	पी. साईंनाथ	41
8.	हमारा मध्यम वर्ग	रवीश कुमार	49
9.	अपने अमरीका को मेरी तीन सलाह	बराक ओबामा	52
10.	हे भगवान!	अरुंधति रॉय	56
11.	जरा सुनिए मिलॉर्ड!		61
12.	कोरोना और गांधी-जन		65
13.	आत्मनिर्भर	संपत सरल	75
14.	टिप्पणियां		77
15.	पत्र		79

आवरण : **दर्द का कोलाज :** कोरोना विषाणु भी वैसा घातक प्रहार नहीं कर सका जैसा घातक प्रहार हमारे श्रमिकों के प्रति हमारी व्यवस्था की हृदयहीनता ने किया! यह दर्द और यह शर्म जितने दिनों तक हमारे भीतर बसी रहेगी, हमें मनुष्य बनाती रहेगी।

वार्षिक शुल्क : भारत में 200 रुपये, दो वर्ष के 350 रुपये, आजीवन-1000 रुपये (व्यक्तिगत), 2000 रुपये (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य 20 रुपये, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। अपना शुल्क चेक, बैंक ड्राफ्ट, मनीऑर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें। ऑनलाइन भुगतान के लिए केनरा बैंक खाता नं. 0158101030392; IFSC CODE : CNRB 0000158.

संपादन : कुमार प्रशांत **प्रबंध :** मनोज कुमार झा **प्रसार :** भगवान सिंह

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002 के लिए अशोक कुमार द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493,

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : नीता प्रेस, 3574- गली जटवारा, नियर सबलोक क्लीनिक, दरियागंज, दिल्ली-110002, फोन नं. 8800646548

कोरोना -काल

शुरू में...

कोरोना के शतरंज की बिसात बिछी है और श्रमिकों और अभिजात्य वर्ग के बीच शह और मात का खेल जारी है- पिछले कई महीनों से! शतरंज के खानों में रोटी और कोरोना रखा है और आमने-सामने हैं पीपीइ में लिपटी व्यवस्था और निहत्था हिंदुस्तान! लोग लाशें ही नहीं गिन रहे हैं, अपनी गोटियां भी लाल कर रहे हैं। एक बीमार समाज ऐसा ही होता है। सत्ता की कूट-चालों, अस्पतालों के गलियारों और दवा कंपनियों की चालबाजियों में घिरा-फंसा हमारा देश व हमारी दुनिया दिनोदिन लाचार हुई जा रही है। आदमी की उम्र बढ़ रही है लेकिन जीवन श्री-हीन होता जा रहा है। गांधी कहते हैं: वही हित सच्चा है जो लाखों भोले-भाले लोगों के हित के विरुद्ध नहीं है।

गांधी-मार्ग का यह अंक कोरोना संकट को विभिन्न पहलुओं से जांचने की कोशिश करता है और पाठकों से जानना भी चाहता है कि इस अंक ने कोरोना संकट को समझने में आपकी क्या और कितनी मदद की।

मैं गांव हूं!

○ सर्वेश कुमार शुक्ला

सुनो-सुनो!

मैं गांव हूं– वही गांव जिस पर आरोप है कि यहां रहोगे तो भूखे मर जाओगे; मैं वही गांव हूं जिस पर आरोप है कि यहां अशिक्षा, गंदगी, बीमारी रहती है। मैं वही गांव हूं जिस पर असभ्यता का और जाहिल-गंवार होने का भी आरोप है। हां, मैं वही गांव हूं जिस पर ये सारे आरोप लगाकर मेरे ही बच्चे मुझे छोड़कर, दूर, बड़े-बड़े शहरों में चले गए। मैं रात भर सिसक-सिसक कर रोता हूं। फिर भी मैं मरा नहीं हूं। मन में एक आस लिये आज भी निर्निमेष पलकों से बाट जोहता हूं कि शायद मेरे बच्चे आ जाएं! लेकिन हाय, जो जहां गया, वहीं का हो गया। अरे, मैंने तो तुम्हें कमाने के लिए शहर भेजा था, तुम शहर के ही हो गए! मेरा हक कहां दिया मुझको? क्या तुम्हारी कमाई से मुझे घर, मकान, बड़ा स्कूल, कॉलेज, इंस्टीट्यूट, अस्पताल आदि बनाने का अधिकार नहीं है? ये अधिकार मात्र शहर को ही क्यों? जब अपनी सारी कमाई तुम शहरों को दे दे रहे हो तो मैं कहां जाऊं? मुझे मेरा हक क्यों नहीं मिलता?

कोरोना संकट के मारे तुम सब अब मेरी तरफ भाग रहे हो। गाड़ी नहीं तो सैकड़ों मील पैदल, बीवी-बच्चों के साथ! मेरे पास तुम्हें देने के लिए है क्या? होता तो तुम जाते क्यों? अब मैं पूछता हूं– तुम आते क्यों हो? कैसे सोचते हो कि गांव पहुंच जाएंगे तो जिंदगी बच जाएगी? भर पेट भोजन मिल जाएगा? परिवार बच जाएगा? ...नहीं, तुम आओ, तुम ठीक ही सोचते हो। मैं गांव हूं, मैं किसी को मारता नहीं, मरने देता नहीं। मेरे लाल, आ जाओ, मैं तुम्हें भूख से नहीं मरने दूंगा। आओ, मुझे फिर से सजाओ, मेरी गोद में फिर से चौपाल लगाओ, मेरे आंगन में चाक के पहिए घुमाओ, मेरे खेतों में अनाज उगाओ, खलिहानों में बैठकर आल्हा गाओ, खुद भी गाओ दुनिया को भी सुनाओ, महुआ-पलास के पत्तों को बीन कर पत्तल बनाओ, गोपाल बनो, मेरे नदी, ताल-तलैया, बाग-बगीचे गुलजार करो, बच्चू बाबा की

पीस-पीस कर प्यार भरी गालियां, रामजनम काका के उटपटांग डायलाग, पंडिताइन की अपनापन वाली खीज और पिटाई, दशरथ साहू की आटे की मिठाई, हजामत और मोची की दुकान, भड़भूजे की सोंधी महक, लईया, चना-कचरी, होरहा, बूंट-खेसारी सब आज भी तुम्हें पुकार रहे हैं। यह मेरी इच्छा नहीं, मेरी आवश्यकता भी है। मेरे गरीब बच्चे, जो रोजी-रोटी की तलाश में मुझसे दूर चले जाते हैं, उन्हें यहीं रोजगार मिल जाएगा, फिर कोई महामारी आने पर उन्हें सैकड़ों मील पैदल नहीं भागना पड़ेगा। मैं आत्मनिर्भर बनना चाहता हूं। लेकिन यदि तुम आत्मनिर्भर नहीं हो तो मैं कैसे हो सकता हूं? मैं तो वही हूं जो तुम सब हो! तुम बदलोगे तो मैं भी बदलूंगा। मैं अपने बच्चों को शहरों की अपेक्षा उत्तम शिक्षित और संस्कारित कर सकता हूं, मैं बहुतों को यहीं रोजी-रोटी भी दे सकता हूं। मैं मन का तनाव भी कम कर सकता हूं क्योंकि मैं मन छोड़ कर नहीं, जोड़ कर रहता हूं। मैं प्रकृति की गोद में जीता हूं, और तुमको भी उसी गोद में रहने के लिए बुलाता हूं। इस गोद को हरा-भरा बनाओगे तो किसी को, किसी चीज की कमी नहीं रहेगी। तुमने शहर में रह कर देखा न कि शहर भी तुम्हारे ही गांव की शाक-सब्जी, मछली-मुर्गा, अनाज-पानी पर जीते हैं। मैं शहरों को पाल सकता हूं तो अपने बच्चों को क्यों नहीं पाल सकूंगा? तुम मुझे अपना बनाओ तो! मैं सब कुछ कर सकता हूं मेरे लाल! बस, तू कृत्रिमता त्याग दे। फ्रीज का नहीं, घड़े का पानी पी; त्योहारों-समारोहों में पत्तलों में खाने और कुल्हड़ों में पीने की आदत डाल, अपने मोची के जूते और दर्जी के सिले कपड़ों पर इतराने की आदत डाल; हलवाई की मिठाई, खेतों की हरी सब्जियां, फल-फूल, गाय का दूध, बैलों की खेती पर विश्वास रख! मेरा संकट एक ही है बेटा कि तूने मुझे छोड़ दिया है। हमेशा की खुशहाल जिंदगी चाहता है तो मेरे लाल, मेरी गोद में आकर कुछ दिन खेल! फिर तो ऐसा खेल होगा कि तू भी खुश और मैं भी खुश!

*

हमारी शुभकामना!

आप यहां तक पहुंचे, इसकी हमें खुशी है; आप यहां से आगे सुरक्षित जाएं और अपने गांव पहुंच जाएं, इसकी कामना! आपको पता है, आपके पहुंचने से आपका गांव भी बहुत खुश होगा। वह भी तो अकेला पड़ गया है न, जैसे आपके मां-बाबूजी, परिवार सब अकेले और उदास हो गए हैं। इसलिए आप वापस जाइए। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आप स्वस्थ व सुरक्षित अपने गांव पहुंच जाएं।

कोरोना की इस महामारी ने हमें बहुत कुछ सिखा दिया है। कभी अपना घर-बार छोड़ कर आप रोजी-रोटी के चक्कर में शहरों में पहुंचे थे। आज उन्हीं शहरों ने आपको छोड़ दिया है। अपना पूरा घर-परिवार लेकर, पता नहीं कहां-कहां से आप निकले हैं और सैकड़ों-हजारों किलोमीटर दूर जा रहे हैं। कोई सवारी भी नहीं है आपके पास। बूढ़े मां-बाप, छोटे-छोटे बच्चों और महिलाओं को लेकर इतनी लंबी पैदल यात्रा कितनी कठिन है और यह उपेक्षा कितनी अपमानजनक है! हम सुनते हैं, रास्तों में थक कर, भूख-प्यास से, दुर्घटना से कई लोगों की जानें भी गई हैं। हम मंगलकामना करते हैं कि अब किसी के साथ ऐसा न हो।

आप जानते हैं हम कौन हैं? हम न सरकारी लोग हैं, न पार्टियों के प्रचारक; शहर में जहां आप काम करते थे, हमारा उनसे भी कोई नाता है। हम गांधीजी के बेटे-बेटियां हैं। गांधीजी का नाम सुना है आपने? सुना है तो बढ़िया, न सुना हो तो सुन लीजिए। एक आदमी था महात्मा गांधी। हम प्यार से उनको बापू कहते हैं। उन्होंने हमको सिखाया था कि आदमी वही है जो अपना जीवन अपनी मुट्ठी में रखता है। जो दूसरों के सहारे नहीं, अपने पैर पर खड़ा रहता है, वह बहादुर होता है। उन्होंने हमसे कहा था कि अपना गांव छोड़ कर कहीं मत जाओ, अपना गांव सुंदर, साफ और मजबूत बनाओ। वे हमें समझाते थे कि गांव मजबूत होगा, वहां हमें काम-रोजगार, खेती-धंधा मिलेगा तो किसी को शहर जाने की जरूरत क्या है? शहर तो हम इसलिए ही आए थे न कि वहां पैसा कमाएंगे और गांव में घर बनाएंगे, मां-बाप को, बाल-बच्चों को पालेंगे। अब बताइए, कितना कमाए हम और कितना बचाए; और कितना गंवाए? कमाए होते, मजबूत बने होते तो आज

भागना क्यों पड़ता? जेब में रखा मोबाइल, किश्त पर खरीदी बाइक, टीवी, फ्रिज कोई काम आया क्या? जेब में पैसा बचा क्या? गांव भी गया और शहर भी नहीं मिला।

गांधीजी हमसे यह भी कहते थे कि शहर वाला शहर बना सकता है, तो गांव वाला गांव काहे नहीं बना सकता है? गांव की खेती से, गांव की सब्जी से और आप जैसे गांव वालों की ताकत से ही तो शहर की गाड़ी चलती है। हम गांव पकड़ कर बैठ जाएं तो शहर को हमारे पास अन्न, सब्जी, दूध, फल-फूल, हवा-पानी सब मांगने आना पड़ेगा। हम गांव को ऐसा बनाएंगे कि उनको उनकी जरूरत का सामान देंगे और उनसे अपनी जरूरत का सामान लेंगे। बात बराबरी की हो जाएगी! फिर आप चाहो तो मोबाइल खरीदो कि फ्रिज, कि टीवी कि कुछ और, कौन रोकेगा? गांव में बनाएंगे, गांव में खाएंगे, शहर से कमाएंगे— गांधीजी ने ऐसा सूत्र बनाया था। लेकिन गड़बड़ हो गई कि हम ही गांव से निकल आए। लेकिन कोई बात नहीं, अब तो गांव लौट रहे हैं न, तो गांव को ठीक से देखिए, समझिए और बनाइए। हममें हिम्मत भी है और अक्ल भी है। अब अपनी अक्ल और हिम्मत से, शहर से सीखे हुए ज्ञान से हम अपना गांव बनाएंगे। अब लौट कर शहर नहीं जाएंगे। शहर के लोग शहर देखें, गांव के लोग अपना गांव देखें।

आप चाहेंगे तो हम इसमें आपकी मदद करेंगे। हम गांव-गांव में साबुन बना सकते हैं, तेल, कपड़ा, बिस्कुट, अनाज, सब बना सकते हैं। आप ही तो शहर में यह सब बनाते थे न! अब गांव में भी बनाएंगे। अपनी मेहनत और एक-दूसरे की मदद से ऐसा क्या है जो हम नहीं कर सकते हैं? बापूजी कह गए कि करना हमें खुद ही है। ईमानदारी से और मेहनत के काम में ईश्वर हमेशा साथ देता है।

गांव में सब रहते हैं, जैसे शहर में सब रहते हैं. लेकिन आपने देखा न कि शहर में रहने वाले जाति-धर्म का भेद नहीं करते हैं। कमाई के लिए सब लोग सब तरह का काम करते हैं। शहर में ब्राह्मण भी रिक्शा चलाता है और धोबी भी साहब बन जाता है। शहर कोई भेद नहीं करता है, वह केवल काम देखता है। कोरोना बीमारी ने भी हमको दिखा दिया न कि ऐसा भेद नकली है। इस बीमारी से कोई बचा क्या? तो जब भगवान भेद नहीं करता है, बीमारी भेद नहीं करती है तो हम भेद क्यों करें? सब गांव वाले इस बात को समझेंगे तो अपना गांव मजबूत भी बनेगा और खुशहाल भी बनेगा। हम आपका साथ देंगे अगर आप हमें बुलाएंगे। हमारा नाम लिख लीजिए, हमारा मोबाइल लिख लीजिए। गांव पहुंच कर अपनी राजी-खुशी भी बताइएगा, और जरूरी लगे तो हमको बुलाइएगा। हम मिल कर अपना गांव बनाएंगे। गांव बनेगा तो हम बनेंगे, हम बनेंगे तो देश बनेगा।

(पैदल घर की ओर जाते श्रमिकों की सहायता के लिए राष्ट्रीय युवा संगठन ने रास्तों में कहीं-कहीं 'गांधी श्रमिक सहायता केंद्र' बनाया था। वहां खाना-पानी व जरूरत की दूसरी चीजों के साथ यह पर्चा भी श्रमिकों को दिया गया था)

*

मैं कौन?

○'सचेत'

जब मैं
मंदिर में प्रवेश करना चाहता था
तुमने रोक दिया थाः
तब मैं अछूत था!
जब मैं
तुम्हारे करीब जाना चाहता था
तुम मेरी छाया से भी
दूर हो गए थेः
तब मैं नीच था!
जब मैं
तुम्हारी प्यास बुझाना चाहता था
शीतल जल पिलाकर
तब तुमने कर दिया था इनकारः
उस वक्त मैं शूद्र था!

एक दिन जब मैंने
तुम्हारी बेटी का हाथ
मांग लिया था अनायास
तुम भड़क उठे थे शोलों की तरहः
तब मैं अधर्मी था!
जब मैंने
समता, स्वतंत्रता की मांग की
तब मैं दलित था!

जब मैंने
अपने संवैधानिक हक की बात उठाई,
तब मैं आदिवासी था!
जब मैंने
आरक्षण का राग छेड़ा
तब मैं पिछड़ा था!
मुझे याद है,
जब तुम्हें मस्जिद तोड़कर
मंदिर बनाना था भव्य,
तब मैं तुम्हारे लिए हिंदू था
जब तुम्हें कराना था
मुसलमानों का कत्लेआम,
तब भी मैं हिंदू था
जब तुम्हें
करानी थी अपने धर्म की रक्षा
तब भी मैं हिंदू था।
जब वोट लेना था मुझसे
तब भी मैं हिंदू था।

तुमने आकाश मार्ग से
लाई थी बीमारी
तब मैं धरती पर बोझ था!
तुम्हारी बीमारी का

अब बीमार हो गया हूं।
आज जब मैं
महीनों पैदल चलकर
सैकड़ों किलोमीटर दूर से
भूखा-प्यासा, कूदता-फांदता
रास्ते में दम तोड़ता
अपने घर लौट रहा हूं फटेहाल
तब मैं
खालिश मजदूर हो गया हूं।

सदियों से
अपनी अस्मिता
और अपने अस्तित्व की तलाश में
दर-दर भटक रहा हूं मैं!

अभी भी घर से बहुत दूर
मैं रास्ते में ही अटक रहा हूं।

साथ में है सिर्फ, और सिर्फ
यह सवाल
कि आखिर मैं कौन हूं?

तुरंत ध्यान दें!

'गांधी-मार्ग' एक परेशानी में है। कृपया हमारी तुरंत मदद करें। हमारे पास नेट बैंकिंग द्वारा आप सदस्यता के या बिल के भुगतान की जो रकम भेजते हैं, उसकी कोई सूचना अलग से हमें नहीं भेजते हैं। निफ्ट हो या दूसरी विधि से बैंक ट्रांसफर हो, रकम हमारे पास आ तो जाती है लेकिन वह रकम, किसने किस काम के लिए भेजी है और भेजने वाले का डाक का पता क्या है, यह हमें पता नहीं चलता है। बैंक से जो जानकारी मिलती है उससे भी यह पता नहीं चल पाता है कि यह पैसा किसने, क्यों भेजा है।

हमारे पास ऐसी कई रकमें जमा हैं। आप सबसे निवेदन है कि आपने 'गांधी-मार्ग' या गांधी शांति प्रतिष्ठान को किसी भी मद में कोई भी रकम भेजी हो तो कृपया हमें तुरंत सूचित करें कि आपने कितनी रकम, किस तारीख को, किस काम के लिए भेजी है और आपको बैंक से मिली रसीद का आईडी नंबर क्या है। आपकी तरफ से इतनी जानकारी मिलते ही हम आपकी मदद करेंगे।

बैंक विवरण निम्न प्रकार है–
'गांधी शांति प्रतिष्ठान'
खाता नं- 0158101030392 (कैनरा बैंक, डी.डी.यू. मार्ग, नई दिल्ली)
मोबाइल नं0. 9911332742, 9990304448

पुतले हम माटी के

○ सोपान जोशी

कोरोना ने बहुत डरा दिया है, क्योंकि मौत सब पर भारी पड़ती है। लेकिन क्या कीजिएगा कि जीवन का मौत से, मौत का जीवन से गहरा व अटूट नाता है। दोनों एक-दूसरे को पालते हैं। कोरोना वायरस के आज के प्रकोप को एक नये संदर्भ में समझने के लिए जरूरी है कि हम अपने भीतर व बाहर वायरस की भूमिका को समझें, उनके संसार का परदा उठा कर देखें

जो अदृश्य होता है उस पर हमें आसानी से विश्वास नहीं होता। उसे विरले ही भांप सकते हैं, वह भी केवल दर्शन की आंख से, जैसे जैन परंपरा के तीर्थंकरों ने देखा। जीवन की बुनियादी इकाई को जैन विचार में 'निगोद' कहा जाता है। यह इतनी छोटी होती है कि उसे मनुष्य की आंख देख नहीं सकती, लेकिन यह हर कहीं व्याप्त है। जैन विचार में सारा संसार असंख्य निगोद से बना है, जो जटिल और बड़े जीवों का आकार भी लेते हैं। कुछ दूसरी प्राचीन दर्शन परंपराओं में ऐसे कुछेक लोगों का वर्णन मिलता है जिन्होंने जीवन की बुनियाद को सूक्ष्म, अदृश्य जीवों में देखा।

दर्शनशास्त्र के बाहर इन गूढ़ जीवों से मनुष्य का परिचय हुआ माइक्रोस्कोप से होने वाले सूक्ष्म दर्शन से। जीवाणुओं का उपयोग मनुष्य न जाने कब से करता आ रहा है, चाहे दूध से दही बनाने वाला बैक्टीरिया हो या आटे से डबलरोटी बनाने वाला खमीर। इस सहज किंतु अदृश्य संबंध की पहली प्रत्यक्ष कड़ी एक मनुष्य की आंख के सामने सन् 1675 में आई। यह विशिष्ट आंख थी हॉलैंड के एक साधारण व्यापारी की, नाम था एंटनी वान लिउनहुक। डेल्फ्ट शहर में उनकी कपड़ों की दुकान थी, और कांच घिस-घिस कर माइक्रोस्कोप बनाना उनका

असाधारण शौक था। पहला कारगर माइक्रोस्कोप श्री एंटनी ने ही बनाया था।

जब ईजाद किए यंत्र के नीचे उन्हें पहली बार इतने सूक्ष्म प्राणी दिखे, तो उन्हें इसमें ईश्वर की अपार लीला की झलक दिखी। हम जो भी समझ पाते हैं वह हमारे संदर्भों पर निर्भर होता है। श्री एंटनी धार्मिक निष्ठा वाले ईसाई व्यक्ति थे। माइक्रोस्कोप के नीचे उन्हें अपना विश्वास, अपना विधाता दिखा। दूसरे कई लोगों ने इस बारीक नई दुनिया में अपनी-अपनी आस्था का आकाश देखा। हमारे यहां सूक्ष्म रोगाणुओं से होने वाली बीमारियों को दैवी रूप में देखा गया है, चाहे वह चेचक की शीतला माता हों या टाइफॉइड के मोतीझरा बाबा।

वैज्ञानिकों में मतभेद है कि वायरस को जीवन मानना चाहिए कि नहीं। एक मत कहता है कि जो अपना जनन कर सके वह जीवित है, जबकि दूसरा पूछता है कि उसे जीवित कैसे माना जा सकता है जिसका स्वरूप एक कोशिका तक का भी नहीं हो।

कालांतर में शोध करने वालों को पता लगा कि जितना अनंत आकाश है, उतनी ही विशाल यह सूक्ष्म दुनिया भी है। चींटी के आकार के प्राणी इस सूक्ष्म दुनिया के लिए वैसे ही होते हैं जैसे हमारे लिए हाथी या नीली व्हेल। इनमें अधिकांश का शरीर तो एक कोशिका भर का ही होता है, जैसे बैक्टीरिया। माइक्रोस्कोप से बनी इस नई परख ने मनुष्य की दृष्टि बदलनी शुरू कर दी। चाहे साधारण लोगों को यह दर्शन न मिला हो, पर माइक्रोस्कोप में झांकने वालों को कई सूक्ष्म लोकों का मेला दिखने लगा। कुछ इसी तरह दूरबीन की खोज से अंतरिक्ष में झांकना संभव हुआ, जिससे समझ यह आया कि हमारी सारी दुनिया, हमारी पृथ्वी और हमारा सौर मंडल भी कई विराट लोकों का एक सूक्ष्म हिस्सा भर है।

श्री एंटनी के आविष्कार की मदद से कई खोजी आंखों ने सूक्ष्म जीवों पर जानकारी इकट्ठी की। उनके माइक्रोस्कोप बनाने के करीब दो सौ साल बाद, 1880 के आसपास यह सिद्ध हुआ कि कुछ जानलेवा रोग जीवाणुओं के संक्रमण से होते हैं। इसमें खास अनुसंधान रहा जर्मन चिकित्सक रॉबर्ट कोख और फ्रांसीसी रसायनशास्त्री लूइ पॅस्चर का। पॅस्चर का नाम तो अब एक विशेषण बन चुका है और बाजार में बिकने वाले पॅस्चराइज्ड दूध और मक्खन पर लिखा मिल जाता है। इन सूक्ष्मदर्शियों के प्रयोगों से लाखों लोगों को मारने वाले रोगों के कारण बैक्टीरिया में मिले। जिन सूक्ष्म जीवों में एंटनी वान लिउनहुक को ईश्वर के दर्शन हुए थे, उन्हें अब रोगाणु की संज्ञा दी गई।

फिर 1892 से 1898 के बीच एक अन्य तरह के जीव की खोज भी हुई जो आकार में बैक्टीरिया से भी छोटा होता है, जो शायद जीवन की बुनियादी ईकाई

है। वह था वायरस– यह एक सूक्ष्म कोशिका का और भी सूक्ष्म हिस्सा केवल वह भाग जो अपना जनन खुद कर सकता है, लेकिन वह भी किसी और कोशिका के भीतर घुसकर। वैज्ञानिकों में मतभेद है कि वायरस को जीवन मानना चाहिए कि नहीं। एक मत कहता है कि जो अपना जनन कर सके वह जीवित है, जबकि दूसरा पूछता है कि उसे जीवित कैसे माना जा सकता है जिसका स्वरूप एक कोशिका तक का भी नहीं हो।

बीमारियों का स्रोत रोगाणुओं में मिलने के बाद इस तरह की जानकारी की बाढ़ आ गई। हर तरह के रोगों का निदान होने लगा। रोगाणुओं की तालिका में कई बैक्टीरिया और वायरस जुड़ते गए– कई तरह के फफूंद, परजीवी कीट, न्यूनाकार के वनस्पति भी। कई प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों ने इस पर अनुसंधान किया। यह मसला केवल शोध की जिज्ञासा का नहीं था। हैजा और प्लेग जैसे रोगों से अनगिनत जानें जाती थीं।

यूरोपीय शहरों के हाल बहुत ही खराब थे। जिस सामाजिक और आर्थिक क्रांति की वजह से विज्ञान प्रकृति के रहस्य खोल रहा था, उसी से उद्योग और मशीनी कारखाने भी बनने लगे थे। इनमें बड़ी संख्या में मजदूरों की आवश्यकता थी। कारखाने शहरों में खुलते थे। अगर गांव या कस्बे में कारखाने खुलते तो वे जल्दी ही शहर बन जाते। इन शहरों की आबादी बहुत घनी थी। गंदगी और गरीबी की मार तो लोगों पर थी ही, बढ़ते कारखानों से हवा और पानी का प्रदूषण भी हो रहा था। इसका लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा असर था। इस बदलाव का प्रभाव यूरोपीय देशों के उपनिवेशों पर भी था, जैसे इंग्लैंड का भारत पर। कारखानों में बनने वाला माल दुनिया भर में भेजा जाता था और बदले में पानी के जहाजों में यूरोप के उपनिवेशों से कमाई और लूट आती थी।

इन जहाजों के साथ कई रोग भी महाद्वीप पार करते थे। यूरोपीय लोगों के संपर्क से फैले रोगों से दुनिया भर में लाखों लोग मारे गए, खासतौर पर अमरीका के दोनों महाद्वीपों में। इसी तरह दूसरी जगहों के रोग यूरोप पहुंचे। 1830 के आसपास भारत के बंगाल में शुरू हुई हैजे की महामारी साम्राज्यवाद के जहाजों पर सवार होकर यूरोप पहुंची। दुनिया भर में लाखों लोग मारे गए। 1848 से 1854 के बीच लंदन बार-बार हैजे की चपेट में आया। लाखों बीमार हुए, हजारों मारे गए। रोग का असल कारण तब किसी को पता नहीं था, उसका इलाज और रोकथाम तो बहुत दूर की बात थी। हैजे के रोगाणु की पहचान तो कई साल बाद, सन् 1886 में जर्मनी में हुई थी। इसके पहले यूरोप के लोग बीमारियों का स्रोत दूषित हवा को मानते थे। इसे 'मायाज्मा' कहा जाता था, जिसका यूनानी भाषा में अर्थ है प्रदूषण।

1854 के लंदन में हैजे का कारण 'मायाज्मा' ही माना जाता था, पर एक चिकित्सक को शक था कि यह बीमारी हवा से नहीं, पानी से फैलती है। उनका नाम था जॉन स्नो। लंदन के जिन इलाकों में हैजा फैला था उनका एक नक्शा उन्होंने बनाया। फिर वे इन इलाकों में घूमने लगे। ऐसा ही एक इलाका था ब्रॉड स्ट्रीट। वहां एक सहृदय पादरी की मदद से उन्हें पता लगा कि उस इलाके में बीमार पड़ने वाले सभी लोगों ने एक ही हैंडपंप का पानी पीया था। उनके आग्रह पर उस 25 फुट गहरे पंप का हत्था निकालकर उसे बंद कर दिया गया। इसके बाद उस इलाके में बीमारी कम होने लगी। बिना किसी पक्की जानकारी के, एक नक्शे की मदद से उस दृष्टा ने एक महामारी को रोकने का तरीका ढूंढ़ निकाला था।

डॉक्टर जॉन स्नो को रोग के फैलने का कारण भूजल नहीं लगता था। उन्हें संदेह था कि यह संक्रमण किसी हैजे के रोगी से किसी खास जगह पर पानी में फैलता है। उनकी खोज के एक साल बाद उसी पादरी को पता लगा कि ब्रॉड स्ट्रीट पर जिस जगह वह पंप खोदा गया था, उससे तीन फुट की दूरी पर ही एक पुराना सेसपिट था, यानी ऐसा गड्ढा जिसमें भवन का मल-मूत्र डाला जाता था। यह किसी को पता नहीं था कि इस इलाके में कोई सेसपिट बचा रह गया था, क्योंकि लोग अपना मल-मूत्र पीछे के आंगन में फेंक देते थे। मुहल्ले में हैजा फैलने के कुछ दिन पहले ही उस घर में रहने वाले एक शिशु को कहीं और से हैजा हो गया था। इस शिशु के पोतड़े धोने के बाद उसका पानी सेसपिट में ही डाल दिया गया था। यहां से संक्रमित मल के कण पीने के पानी में रिस गए थे और उस पानी को पीने वालों को बीमार कर रहे थे। इसी तरह टेम्स नदी मल-मूत्र बहाए जाने की वजह से हैजे का स्रोत बन गई थी।

डॉक्टर जॉन स्नो की खोज को उस समय की सरकार ने स्वीकार नहीं किया, उनकी कद्र नहीं की। लेकिन आगे चलकर उन्हें आधुनिक रोगविज्ञान का जनक माना गया। उनके काम ने दिखलाया कि महामारियों के कारण ढूंढ़कर उनकी रोकथाम हो सकती है। यह भी कि एक रोगी से ही दूसरे व्यक्ति को रोग होता है। इसके कई सालों बाद दूसरे वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया कि कई जानलेवा रोग हमारे मल से फैलते हैं। हैजा, पोलियो, आंत्रशोथ, दस्त, पीलिया और टाइफॉइड रूपी मियादी बुखार भी।

आज मनुष्य के मल में मौजूद रोगाणुओं पर बहुत शोध हो चुका है। हर तरह के संक्रामक रोग का कारण हम जान चुके हैं और ऐसा मान सकते हैं कि ज्यादातर का उपचार भी हमारे पास है। आज अधिकतर लोगों की इन बीमारियों से जान नहीं जाती। रोगाणुओं को मारने वाली कई तरह की एंटीबायोटिक दवाएं

हैं, रोग से बचाव के लिए वैक्सीन के टीके भी ईजाद हो चुके हैं। दवा बनाने वाली बड़ी-बड़ी कंपनियां हैं जो खरबों में खेलती हैं और नित नए उपचारों का आविष्कार कर उन्हें बेचती हैं। कई सरकारी और अकादमिक प्रयोगशालाएं हैं जो आकार में छोटे-मोटे शहरों जितनी बड़ी हैं। रोगाणु और उनके व्यवहार पर जानकारी की चारों तरफ बाढ़ है।

आज यह जानकारी आम है कि हमारे एक ग्राम मल में एक करोड़ वायरस, 10 लाख बैक्टीरिया, कोई एक हजार परजीवी पुटी और कोई 100 कीट अंडे हो सकते हैं। औसतन एक व्यक्ति एक दिन में 200-400 ग्राम मल का त्याग करता है। हमारे मल में वायरस के कम-से-कम 140 प्रकार पाए जाते हैं जिनमें से कई जानलेवा बीमारी दे सकते हैं। गरीब देशों में साधनहीन लोगों की बस्तियों में तो हाल कुछ वैसे ही हैं जैसे 1854 में लंदन के थे। इन इलाकों में रहने वाले आधे लोग ऐसी बीमारियों का शिकार होते हैं जो अस्वच्छता की वजह से होती हैं, यानी उनके पीने के पानी में मल के कण पहुंचते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन का अंदाजा है कि दुनिया भर में मल से फैलने वाले रोगों से होने वाली पेचिश के कारण 22 लाख लोग हर साल जान गंवा देते हैं। इनमें ज्यादातर बच्चे होते हैं, यानी हर रोज 6,000 बच्चे ऐसी बीमारियों से मारे जाते हैं। हर 15 सेकेंड में एक बच्चा दुनिया के किसी-न-किसी हिस्से में इसलिए मारा जाता है क्योंकि वहां रहने वालों के मल का सुरक्षित निकास नहीं होता है।

इतनी सब जानकारी और दवाइयों के बाद भी हम, हमारी सरकारें इन बीमारियों की रोकथाम नहीं कर पा रही हैं। साफ-सुथरे और विकसित माने गए देशों में भी संक्रमण से फैलने वाली बीमारियां होती ही हैं, यह बात अलग है कि वहां मल से फैलने वाली बीमारियों पर काबू पा लिया गया है। रोगाणुओं से लड़ने की हमारी क्षमता कितनी भी बढ़ जाए, रोगाणु हमारा पीछा नहीं छोड़ रहे हैं।

हमारे एक ग्राम मल में एक करोड़ वायरस, 10 लाख बैक्टीरिया, कोई एक हजार परजीवी पुटी और कोई 100 कीट अंडे हो सकते हैं। औसतन एक व्यक्ति एक दिन में 200-400 ग्राम मल का त्याग करता है।

कई वजहें हैं इसकी। एक तो यही है कि मनुष्य अपना स्वभाव ठीक से समझता नहीं है। उस प्रकृति को भी नहीं जिसने उसे बनाया है। इसमें कमी जानकारी की नहीं है, जानकारी तो अपार है आजकल। अभाव हमारी दृष्टि में है।

इसकी झलक दिखती है जीवाणुओं के प्रति हमारे रवैये में। रोगाणुओं का पता चलने के बाद से सूक्ष्म जीवों से हमारा परिचय एकतरफा होता गया है।

इसकी शुरुआत हुई 1876 में, जब जर्मन चिकित्सक रॉबर्ट कोख ने प्रमाणित किया कि बीमारी रोगाणु से संक्रमण होने पर होती है। इसी खोज के लिए 1905 में उन्हें चिकित्सा का नोबेल पुरस्कार मिला। इसी दौरान उन्हीं के मित्र और सहयोगी पॉल एयरलिख और एक रूसी वैज्ञानिक इलिआ मेचनिकोव ने पता लगाया था कि हमारे खून में सफेद रंग की कोशिकाएं होती हैं, जो रोगाणुओं को मारती हैं। इन दोनों को 1908 में चिकित्सा का नोबेल मिला।

यह तय है कि कुछ लोगों को बहुत पहले से पता था कि किसी रोग का हल्का-सा संक्रमण आगे चलकर उस रोग से रक्षा भी करता है।

रोगों से लड़ने की ताकत का अंदाजा तो कई जगहों पर न जाने कब से रहा है। भारत, चीन, तुर्की और यूनान में चेचक से बचने के लिए लोगों का, खास कर बच्चों का संक्रमण एक सूई द्वारा किसी रोगी के पीप से करवाने का चलन बहुत पुराना रहा है। इस तरह से 'टीका' लगाने का चलन कहां शुरू हुआ और कैसे फैला इसके सीधे प्रमाण नहीं मिले हैं। लेकिन यह तय है कि कुछ लोगों को बहुत पहले से पता था कि किसी रोग का हल्का-सा संक्रमण आगे चलकर उस रोग से रक्षा भी करता है।

एडवर्ड जेनर नाम के एक अंग्रेज चिकित्सक को 1760 के दशक में पता लगा कि गायों की देखभाल करते हुए गौ-चेचक के संपर्क में आने वाली ग्वालनों को चेचक नहीं होता था। 1796 में उन्होंने ऐसी ही एक ग्वालन के पीप का टीका एक बालक को लगाया, फिर उसे चेचक से संक्रमित भी किया। बालक को चेचक नहीं हुआ। इसके आधार पर श्री एडवर्ड ने चेचक से बचने का टीका बनाया था। इसके 90 साल बाद 1886 में फ्रांस में लुइ पॅस्चर ने जलांतर रोग यानी रेबीज का टीका ईजाद किया।

बीमारियों की रोकथाम में लगे लोगों का ध्यान रोगाणुओं को मारने वाली दवाओं पर गया। 1928 में स्कॉटलैंड के जीवशास्त्री अलेक्सांडर फ्लेमिंग ने एक फफूंद को उगा कर उससे पेनिसिलिन नाम की दवा निकाली। 1942 में इसी तरह की दवाओं को 'एंटीबायोटिक' की संज्ञा दी गई। ऐसी दवाएं कई तरह के रोगाणुओं को मिटाती हैं। इनसे असंख्य लोगों की जान बची है। बीमारी की पीड़ा कम हुई है। पेनिसिलिन और उसके बाद आई एंटीबायोटिक दवाओं ने बीमारियों के उपचार में क्रांति ला दी है।

एंटीबायोटिक दवाओं के आने के बाद रोगाणुओं ने बढ़ना बंद नहीं किया। बैक्टीरिया जैसे एक कोशिका के जीवों की आनुवंशिक स्मृति बहुत पुरानी है। जैसे-जैसे चिकित्सा विज्ञान नए एंटीबायोटिक बनाता गया, रोगाणु इन्हें सहन

करना भी सीखते गए, दवाइयों के विरुद्ध वे अपनी प्रतिरोध शक्ति बढ़ाते गए। आज रोगाणुओं और दवा बनाने वाली कंपनियों में होड़ जैसी चल रही है।

इसे लेकर वैज्ञानिक चिंतित हैं। अमरीकी सूक्ष्म जीव विज्ञान अकादमी कहती है, "रोगाणुओं की एंटीबायोटिक प्रतिरोध-शक्ति कभी चूकेगी नहीं। हम चाहे कितनी भी दवाएं उनकी तरफ फेंके, वे बचने का तरीका खोज ही लेंगे। अरबो-खरबों सूक्ष्म जीवाणु क्रमिक विकास की प्राकृतिक ताकत से लैस हैं। वे हमेशा, बिना रुके हुए बदलते रहेंगे और हमारी दवाओं पर भारी ही पड़ेंगे, यह तय है।" 1987 के बाद से 28 साल में एंटीबायोटिक दवाओं का कोई भी नया प्रकार खोजा नहीं जा सका है, जबकि हजारों वैज्ञानिक, बीसियों प्रयोगशालाओं में, अरबों डॉलर खर्च से इस पर शोध और प्रयोग करते रहे हैं। 2015 में जाकर एक नये प्रकार का एंटीबोयोटिक ईजाद हुआ।

रोगाणुओं के साथ होड़ शुरू होने के बाद यह बात कहीं दब गई है कि 1675 में एंटनी वान लिउनहुक ने जब माइक्रोस्कोप के नीचे पहले-पहल जीवाणु देखे, तो उन्हें उनमें ईश्वरीय चरित्र दिखा था। लेकिन जीवाणुओं की हमारी आधुनिक समझ उतनी और वैसी ही बनती गई जितनी और जैसी कि दवा कंपनियां हमें समझाना चाहती हैं। जो जीवाणु बीमारी नहीं फैलाते या चुपचाप हमें फायदा पहुंचाते हैं उनकी ओर दवा बनाने वालों का ध्यान नहीं गया।

हमारी चिकित्सा और शोध व्यवस्था बाजारू होती जा रही है। स्वास्थ्य पर शोध करने से मुनाफा इतना नहीं होता जितना किसी बीमारी का महंगा उपचार खोजकर उसे बेचने से होता है। यह मनोवृत्ति दवा उद्योग से होते हुए डॉक्टरों, अस्पतालों, रोग निदान की प्रयोगशालाओं, दवा बेचने की दुकानों से लेकर खुद रोगियों तक भी पहुंच गई है। जीवाणुओं का हौवा बन गया है। बैक्टीरिया और वायरस के नाम ऐसे लिये जाते हैं कि जैसे वे आतंकवादी संगठनों के सदस्य हों।

इससे स्वस्थ विचार नहीं, अज्ञान ही फैलता है। सच तो यह है कि हमारी पूरी-की-पूरी दुनिया जीवाणुओं से ही बनी है। जीवशास्त्रियों को पिछले कुछ सालों में पता चला है कि हममें से हर एक के शरीर में कुल जितनी कोशिकाएं हैं उनमें दस गुना अधिक जीवाणु हैं। मतलब एक कोशिका के सामने 10 जीवाणु! हममें से हर एक का शरीर औसतन 90 लाख करोड़ जीवाणुओं का घर है।

इतनी तादाद में हमारे शरीर के भीतर और ऊपर जीवाणुओं के होने पर भी हमें इनकी मौजूदगी का आभास नहीं होता। जो जीव माइक्रोस्कोप के नीचे भी मुश्किल से दिखते हैं उनसे परिचय कैसे हो? यदि आपका वजन 90 किलोग्राम मान लें, तो इसमें एक-डेढ़ किलोग्राम वजन तो केवल आपके भीतर रहने वाले जीवाणुओं का होता है। कुछ वैज्ञानिक तो यहां तक कहते हैं कि हमें जीवाणुओं

को अपने शरीर के एक विशेष अंग की तरह देखना-समझना चाहिए।

जब दो प्राणी एक ही प्राकृतिक वास में रहते हैं तब उनमें या तो टकराव होगा या सहयोग। अधिकतर दोनों ही होते हैं। हमारा जीवित रहना इसका प्रमाण है कि प्रकृति में कटुता से ज्यादा सहयोग है।

एक फोड़े को ध्यान से देखते हैं। अगर फोड़ा हो जाए तो उसकी लाली देखकर हम जान सकते हैं कि हमारा संक्रमण हो गया है 'स्टैफ' बैक्टीरिया से, जिसे जीवशास्त्री 'स्टैफाएलोकोक्कस ऑरिअस' पुकारते हैं। यह जीवाणु औसतन हर तीन में एक व्यक्ति के शरीर पर हमेशा ही पाया जाता है, चमड़ी पर और श्वास तंत्र में भी, खासकर हमारी नासिकाओं के भीतर। इसकी मौजूदगी का पता हमें केवल तब चलता है जब फोड़ा दुखता है। पर उन हजारों मित्र जीवाणुओं से हमारा परिचय तो हो ही नहीं पाता है जो घाव को जल्दी से भरने के लिए वहां पहुंचते हैं और नये रोगाणु को जगह बनाने नहीं देते हैं। बदले में उन्हें हमारी चमड़ी से खाना मिलता है, मरी हुई कोशिकाओं का।

हमारी चमड़ी में हमेशा ही पुरानी कोशिकाएं मरती रहती हैं, नई कोशिकाएं बनती रहती हैं। अगर इन मरी हुई कोशिकाओं को जीवाणु अपना भोजन न बनाएं तो इनके सड़ने का खतरा रहता है। यही नहीं, इनको खाने के लालच में रोगाणु भी आ सकते हैं। मित्र रोगाणु उन्हें घर बनाने से रोकते हैं। जीवाणु हमारी चमड़ी के सफाई कर्मचारी ही नहीं, पहरेदार भी हैं। अगर ये हमें सफाई और पहरेदारी का बिल भेजने लगें तो शायद हमें इनकी असली कीमत पता लगे, या तब जब ये हड़ताल कर दें। लेकिन जीवाणु अपना काम सतत करते रहते हैं।

एक और उदाहरण देखिए। चेहरे पर होने वाले मुहांसों का कारण है एक बैक्टीरिया, जिसका लंबा-सा वैज्ञानिक नाम छोड़ देते हैं। यह हमारे बालों की जड़ में पैदा होने वाले तेल पर पलता है। युवावस्था में जब चेहरे के बालों की जड़ें फूलने लगती हैं, उनमें तेल की मात्रा बढ़ जाती है, तब इसका प्रकोप बढ़ता है। इसीलिए मुहांसे आम तौर पर युवावस्था में ही निकलते हैं। इनसे निबटने के लिए कई तरह के उपचार बाजार में बिकते हैं। इनका असर होता है या नहीं, यह आप मुहांसों से जूझ रहे किसी भी युवक या युवती से पूछ सकते हैं। फिर भी मुहांसों के उपचार के लिए दवा बनाने वाली कंपनियों को करोड़ों रुपयों का धंधा मिलता है।

आज एंटीबायोटिक दवाओं का असर कम होने लगा है। रोगाणु इन दवाओं की सहने की ताकत बना लेते हैं और मजबूत हो जाते हैं। क्षयरोग करने वाला बैक्टीरिया और फोड़े करने वाला स्टैफबैक्टीरिया, इन दोनों के ऐसे रूप उभर आए हैं जो एंटीबायोटिक दवाओं के प्रतिरोध की ताकत बटोर चुके हैं। कई और रोगाणु

ऐसी ताकत या तो पहले पैदा कर चुके हैं या लगातार उसे पैदा करते जा रहे हैं। इनमें से कुछ बैक्टीरिया तो ऐसे हैं जिनसे हमारा संबंध आदिकालीन है।

धरती पर जीवन का सबसे व्यापक प्रकार सूक्ष्म जीवाणु ही हैं। चाहे वनस्पति हों या प्राणी, जीवाणुओं के बिना किसी का जीवन नहीं चल सकता। पौधे जमीन से अपना खाना बिना मिट्टी में मौजूद जीवाणुओं के नहीं निकाल सकते। मरे हुए पौधे और पशु बिना जीवाणुओं के वापस खाद बनकर पुनर्जन्म नहीं ले सकते। जीवन की लीला की सबसे पुरानी, बुनियादी इकाई जीवाणु ही हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि असल में यह दुनिया सूक्ष्म जीवों की ही है, जिसमें हम हाल ही में आए हैं, दो-चार दिनों के मेहमानों की तरह। हमारे विलुप्त होने के बाद भी यह दुनिया उन्हीं की होगी।

2001 में एक जर्मन खोजी दल समुद्र तल पर पाए जाने वाले एक पदार्थ से ईंधन बनाने पर अनुसंधान कर रहा था। उसे पता चला कि समुद्र तल ही नहीं, समुद्र तल के कई सौ फुट नीचे तक ऐसी जीवाणु प्रजातियां हैं जो बिना ऑक्सीजन के जीती हैं। इनका स्वभाव आज भी उन सूक्ष्म जीवों जैसा ही है जिन्होंने पौने चार अरब साल पहले पृथ्वी पर जीवन की शुरुआत की थी। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि हमारे ग्रह पर कुल जीवों में से एक-तिहाई समुद्र की गहराई के नीचे रहते हैं। इनकी छोड़ी हुई कार्बन गैस अगर समुद्र की सतह से निकल आए तो समुद्र ही क्या, हमारे वायुमंडल में भी प्रलय आ जाएगा।

एंटीबायोटिक दवाओं के आने के बाद रोगाणुओं ने बढ़ना बंद नहीं किया। जैसे-जैसे चिकित्सा विज्ञान नये एंटीबायोटिक बनाता गया, रोगाणु इन्हें सहन करना भी सीखते गए, दवाइयों के विरुद्ध वे अपनी प्रतिरोध शक्ति बढ़ाते गए।

कुछ ऐसी ही घटना आज से 25 करोड़ साल पहले हुई थी, ऐसा अनुमान है। उस प्रलय में पृथ्वी पर विचरने वाले कुल जीवों में से 90-96% प्रजातियां लुप्त हो गई थीं। इसके बाद जीवन को फिर से पनपने में एक करोड़ साल लगे। आज जितने भी जीव, वनस्पति और प्राणी हम देख सकते हैं, वे बचे हुए 4-10% जीवों की ही संतति हैं। विज्ञान अभी तक मानता आया है कि इस प्रलय के पीछे एक विराट ज्वालामुखी का फटना था। लेकिन नये शोध संकेत देते हैं कि इसके पीछे प्राचीन जीवाणुओं का प्रचुर मात्रा में बढ़ना था। यही नहीं, इन जीवाणुओं ने कुछ बैक्टीरिया से ऐसे आनुवंशिक तत्व ले लिये थे जिनसे इनकी आबादी तेजी से बढ़ती गई। इनकी छोड़ी कार्बन-युक्त गैसों से एक पूरी दुनिया नष्ट हो गई। हरे-नीले बैक्टीरिया अगर ब्रह्मा की तरह एक नई दुनिया बना सकते हैं, तो जीवाणु उसे महेश की तरह तहस-नहस भी कर

सकते हैं। परंतु अधिकतर समय तो वे विष्णु और लक्ष्मी के रूप में दुनिया को चलाते हैं, उसका संरक्षण करते हैं।

जीवाणुओं से हमारे शरीर का सीधा संबंध समझने के लिए अमरीकी सरकार ने एक बहुत बड़ा शोध कार्यक्रम 2008 में शुरू किया। इसे 'ह्यूमन माइक्रोबायोम प्रोजेक्ट' कहा जाता है। यूरोप में भी ऐसा ही एक विशाल शोध शुरू हुआ है, जिसका खास ध्यान मनुष्य की आंत में पलने वाले जीवाणुओं पर है। हमारे शरीर के चार खास ठिकाने– चमड़ी, जननेंद्री, नाक और पूरा श्वास तंत्र और मुंह से होते हुए पाचन तंत्र– जीवाणुओं का अड्डा होते हैं। इनकी सबसे घनी बस्ती हमारी आंत में होती है, जहां करोड़ों जीवाणु हमारे भोजन से जरा-सा हिस्सा लेकर अपना भरण-पोषण करते हैं।

समुद्र तल के कई सौ फुट नीचे तक ऐसी जीवाणु प्रजातियां मिलीं, जो बिना ऑक्सीजन के जीती हैं। इनका स्वभाव आज भी उन सूक्ष्म जीवों जैसा ही है जिन्होंने पौने चार अरब साल पहले पृथ्वी पर जीवन की शुरुआत की थी।

इनके रहने से हमें तीन बड़े फायदे हैं। एक, ये भोजन को पचाने में बड़ी भूमिका निभाते हैं। आंतों के भीतर भोजन को गला कर सोखने के लिए कई तरह के रसायनों की जरूरत पड़ती है। हमारा शरीर इतने रसायन खुद नहीं बना सकता, सो वह इन जीवाणुओं को अपने अंदर पालता है। एक उदाहरण हमारी आंत में रहने वाले एक बेहद कामयाब बैक्टीरिया 'एस्केरिकिया कोलाइ' या ई.कोलाई है। यह नाम पानी की शुद्धता जांचने के मामलों में अक्सर सुनने में आता है। पानी में ई.कोलाई मिलने पर यह सिद्ध हो जाता है कि वह मल के करणों से दूषित है।

इस बैक्टीरिया का घोर अपयश हुआ है। इसका नाम आते ही हिकारत का भाव आ जाता है। ई.कोलाई मनुष्य ही नहीं, हर गर्म खून वाले प्राणी की आंत में बसता है और इसके सौ से अधिक प्रकार हैं। इनमें से कुछेक ही हैं जो मनुष्य को बीमार कर सकते हैं। ज्यादातर या तो कोई नुकसान नहीं पहुंचाते या लाभकारी होते हैं। ई.कोलाई की उपस्थिति आंत के भीतर रोगाणुओं के टिकने की जगह नहीं छोड़ती। वहां पर यह 'के-2' नाम का एक खास विटामिन बनाने का काम करता है। यह विटामिन हमारे शरीर के लिए जरूरी है, खासकर खून और हड्डी के स्वास्थ्य के लिए। लेकिन हमारे शरीर को इसे तैयार करना नहीं आता। इस काम को नए सिरे से सीखने की बजाय हमारा शरीर इसे ईकोलाई को सौंप देता है। यह बैक्टीरिया 'के-2' विटामिन को तैयार करता है और आंतों द्वारा सोखने लायक भी बनाता है।

इसे रोटी, कपड़ा और मकान मिलते हैं हमारी आंत में। जब किसी रोगाणु को मारने के लिए हम एंटीबायोटिक दवाएं लेते हैं तो पाचन और स्वाद, दोनों बिगड़ जाते हैं। ऐसा इसलिए कि ये दवाएं रोगाणुओं को मारें या न मारें, हमारे मित्र जीवाणुओं को तो जरूर ही मार देती हैं। जब तक ये सूक्ष्म मित्र हमारे शरीर में लौट न आएं, खाना पचाना तो कठिन होता ही है, मुंह में जायका भी नहीं रह जाता। वैज्ञानिकों ने पाया है कि एंटीबायोटिक लेने के बाद शरीर में ई.कोलाई के साथ ही विटामिन 'के-2' भी कम होने लगता है। एक रोग की दवाई एक और बीमारी का कारण भी बन जाती है।

हमारा मोटा होना या न होना तक हमारे पेट में रहने वाले जीवाणुओं पर निर्भर होता है। ऐसे लोग मिलते हैं जो बहुत ज्यादा खाते हैं लेकिन दुबले ही रहते हैं। ऐसे भी मिलते हैं जिनका भोजन बहुत ज्यादा नहीं होता पर शरीर भारी होता है। अब विज्ञान को इसमें जीवाणुओं का हाथ दिखने लगा है। मधुमेह रोग में भी जीवाणुओं के संतुलन बिगड़ने के प्राथमिक प्रमाण मिले हैं। हमारे चित्त पर, आनंद-अवसाद में तो जीवाणुओं का दखल होता ही है, हमारे विवेक पर भी उनका प्रभाव रहता है।

इसका उदाहरण है हमारे पेट में रहने वाला एक बैक्टीरिया 'हेलिकोबैक्टर पाइलोरी'। औसतन दो में से एक व्यक्ति के पेट में यह पाया जाता है और हर किसी का इससे संक्रमण कभी-न-कभी होता ही है। कोई एक लाख साल पहले भी मनुष्य की आंत में इसके होने के प्रमाण मिले हैं, बुरी परिस्थिति में यह पेट में घाव कर देता है, जिसके बिगड़ने पर कैंसर का डर बढ़ जाता है। 1994 में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे कैंसरकारी ठहराया। पश्चिम के देशों में इसे मारने के लिए एंटीबायोटिक दवाओं का खूब इस्तेमाल हुआ, और इससे होने वाले रोग कम होने लगे।

इसके कई साल बाद एक वैज्ञानिक को पता चला कि इसकी मौजूदगी पेट की सेहत पर अच्छा असर भी रखती है। यह बैक्टीरिया पेट के तेजाब को काबू में रखता है और पेट के बारीक रसायन को संतुलित भी रखता है। दवाओं से इसे खत्म करने के बाद पेट के तेजाब से जुड़े ऐसे रोग बढ़ने लगे हैं जिनके बिगड़ने से भोजन की नली में कैंसर हो सकता है।

किसी एक इलाके में रहने वालों के पेट में जीवाणु एक तरह के होते हैं, किसी दूसरी जगह रहने वालों के पेट में दूसरी तरह के होते हैं। इसलिए किसी नई जगह के भोजन-पानी के साथ संतुलन बैठाने में समय लगे तो क्या आश्चर्य है।

मित्र जीवाणुओं से हमें दूसरा फायदा यह है कि ये रोगाणुओं को दबा कर

रखते हैं। मान लीजिए कि करोड़ों सूक्ष्म सैनिक हमारे शरीर की पहरेदारी करते हैं। ये ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि रोगाणुओं से इनका भोजन के लिए मुकाबला होता है। अगर इनका खाना रोगाणु चट कर जाएं तो इन्हें क्या मिले? अगर रोगाणु हमें बीमार कर दें तो इनका घर, यानी हमारा शरीर बिगड़ता है। हमारे स्वास्थ्य में ही इनका स्वास्थ्य होता है। इनकी और हमारी दांत काटी दोस्ती है। यह साझेदारी लाखों साल और अनगिनत पीढ़ियों की है। अब यह दोस्ती जन्मजात हो चुकी है। अपने दोस्त को नुकसान पहुंचाने वाले को ये जीवाणु आड़े हाथों लेते रहते हैं, हर रोज, हर कहीं। हमारा जीवित रहना ही इसका प्रमाण है कि मित्र जीवाणुओं से हमारा सहयोग रोगाणुओं की हिंसा पर भारी पड़ता है। और बीमारी की मिसाल लीजिए। इसे अंग्रेजी में 'कोलाइटिस' कहते हैं। यह क्लॉस्ट्रोडियम डिफ्फिसिल नाम के बैक्टीरिया से होती है। यह बैक्टीरिया कुछ लोगों की निचली आंत में चुपचाप बैठा रहता है क्योंकि वहां रहने वाले मित्र जीवाणु इस ढीठ को काबू में रखते हैं, इसे उत्पात नहीं मचाने देते।

इस रोगाणु ने एंटीबायोटिक दवाओं को सहना सीख लिया है। लेकिन इसे काबू में रखने वाले जीवाणु इन दवाओं से मारे जाते हैं। कुछ लोगों में एंटीबायोटिक लेने के बाद इस रोगाणु का प्रकोप बढ़ जाता है। इसके ऐसे प्रकार भी बन गए हैं जिन पर किसी दवा का असर नहीं होता। लेकिन इसका एक नया उपचार ढूंढ़ा गया है। किसी स्वास्थ व्यक्ति के मल का एक छोटा-सा हिस्सा रोगी की निचली आंत में डाला जाता है। बस, मित्र जीवाणुओं के पहुंचते ही इसका प्रकोप घट जाता है। यह उपचार बतलाने में बहुत शोभनीय नहीं लगता है, पर इस उपचार का सही मोल तो कोलाइटिस से जूझ रहा कोई रोगी ही बता सकता है।

जीवाणुओं की खोज में अपेंडिक्स की उपयोगिता पता चली है। बड़ी आंत से जुड़े इस अंग से हमारा वास्ता तभी पड़ता है जब इसमें रोग हो जाए। अब कुछ लोग कहने लगे हैं कि यह अंग मित्र जीवाणुओं की पौधशाला है। अमेरिका के एक अस्पताल में पाया गया कि कोलाइटिस के जिन रोगियों का अपेंडिक्स निकाल दिया गया था, उन्हें यह रोग फिर होने का खतरा दोगुना था। जिनका अपेंडिक्स बचा था, उनमें यह खतरा कम था।

ऐसा केवल हमारी आंत में ही होता हो ऐसा नहीं है। ऊपर नाक तक आइए, जिसके पीछे हमारी खोपड़ी की हड्डी में चार जोड़ी गड्ढे होते हैं। इन्हें साइनस कहा जाता है। इनका औचित्य विज्ञान को आज भी ठीक-ठीक पता नहीं है लेकिन जब इन गड्ढों के भीतर किसी रोगाणु का संक्रमण हो जाए तो न जाने कितने लोगों को डॉक्टर या अस्पताल भागना पड़ता है। सात अमरीकी वैज्ञानिकों

ने सितंबर 2012 में एक शोधपत्र छापा, जो इस रोग को नये सिरे से समझाता है। उन्हें पता लगा कि रोगी के साइनस में वे जीवाणु नहीं थे, जो किसी भी स्वस्थ व्यक्ति के साइनस में पाए जाते हैं। इनमें से खास था एक ऐसा जीवाणु, जो साइनस के भीतर रोगाणु को पैर जमाने से रोकता है। रोगियों के साइनस में यह सूक्ष्म मित्र नदारद था। मतलब यह कि रोग तभी होता है जब रक्षक कमजोर पड़ जाएं, और उन्हें कमजोर करती हैं एंटीबायोटिक दवाएं जो आजकल हमारे यहां बहुत जल्दी और बार-बार ले ली जाती हैं, जबकि इनका उपयोग सावधानी से होना चाहिए।

तीसरा फायदा मित्र जीवाणुओं से मिलता है हमारे रोगप्रतिरोध तंत्र को। प्रकृति ने हमें सहज ही रोगों से लड़ने की जो शक्ति दी है वो कभी कमजोर भी पड़ती है, चाहे वह रोगाणुओं की वजह से हो या कुपोषण से या किसी और कारण से। इस तंत्र को ताकत मिलती है जीवाणुओं से।

के-2 नाम का एक खास विटामिन हमारे शरीर के लिए जरूरी है, खासकर खून और हड्डी के स्वास्थ्य के लिए। लेकिन हमारे शरीर को इसे तैयार करना नहीं आता। इस काम को नये सिरे से सीखने की बजाय हमारा शरीर इसे ईकोलाई को सौंप देता है। यह बैक्टीरिया 'के-2' विटामिन को तैयार करता है और आंतों द्वारा सोखने लायक भी बनाता है।

यह समझने के लिए छठी का दूध याद करना जरूरी है। ऐसे मित्र जीवाणुओं पर शोध कम हुआ है, ठीक वैसे ही मां के दूध का मोल भी ठीक से नहीं आंका गया है। शायद इसलिए कि मां के दूध का व्यापार नहीं हो सकता, उसमें मुनाफे की गुंजाइश नहीं होती। जिन कुछेक वैज्ञानिकों ने इस पर शोध किया है वे कहते हैं कि मनुष्य के अपने दूध की तुलना में अंगूरी शराब और गाय के दूध के बारे में हमें कहीं ज्यादा पता है। जो थोड़ा-बहुत शोध हुआ है वह शिशु आहार बनाने वाली कंपनियों ने ही किया है जो मां के दूध का पर्याय बन चुके पैकेटबंद 'फॉर्मूला' पाउडर बेचती हैं, जिसका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कुछ अरब डॉलर का है। लेकिन पिछले कुछ सालों में जीवाणुओं पर हुए शोध के बाद मां के दूध को नये सिरे से समझा जाने लगा है।

यह तो सबको मालूम है कि मां के दूध पर पले बच्चों की रोगप्रतिरोध क्षमता ज्यादा होती है पर इसका कारण बहुत स्पष्ट नहीं था। यह माना जाता था कि बच्चे के पोषण के अलावा मां के दूध का कोई और औचित्य ही नहीं है। आजकल कुछ वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि मां के दूध की एक और बड़ी भूमिका है, और वह है शिशु की रक्षा। यह जीवाणुओं की मदद से होता है। इसे ठीक से

समझने के लिए हमें हमारे जन्म की परिस्थिति समझनी होगी।

गर्भ का वातावरण जीवाणुहीन होता है, लेकिन बाहरी दुनिया तो जीवाणुओं से ही बनी है। जन्म के बाद शिशु को इनसे दूर रखने का कोई तरीका नहीं है। इसलिए माता का शरीर लाभकारी और रक्षक जीवाणु पालता है। इनसे शिशु का वास्ता जन्मनली में ही होता है, जहां कई लाभकारी जीवाणु उसका स्वागत करते हैं और उसके शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा में लग जाते हैं। ऑपरेशन से जन्मे शिशु इस लाभ से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि उनका संपर्क जन्मनली से होता ही नहीं है। आजकल कुछ अस्पतालों में ऑपरेशन से जन्मे शिशु को जन्मनली के तरल में भिगोया जाने लगा है, ताकि शिशु उन रक्षक जीवाणुओं से वंचित न रहे।

जीवाणुओं की खोज में अपेंडिक्स की उपयोगिता पता चली है। यह अंग मित्र जीवाणुओं की पौधशाला है। अमेरिका के एक अस्पताल में पाया गया कि कोलाइटिस के जिन रोगियों का अपेंडिक्स निकाल दिया गया था, उन्हें यह रोग फिर होने का खतरा दोगुना था।

जन्म लेते ही कई तरह के जीवाणु शिशु के शरीर की ओर भागते हैं। इनमें रोगाणु भी होते हैं। मित्र जीवाणुओं के साथ इनका महाभारत हर नवजात शिशु के शरीर में जन्म के साथ ही शुरू हो जाता है और मृत्यु तक चलता रहता है। मां के शरीर में कुछ दूसरी व्यवस्थाएं भी हैं इन रक्षक बैक्टीरिया को पोसने की। मां के दूध में एक खास किस्म की शर्करा होती है। इसे वैज्ञानिक 'औलिगोसैक्कराइड' की श्रेणी में डालते हैं। परीक्षणों से पता चलता है कि यह लगभग सारी ही शर्करा शिशु के मल में निकल जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि शिशु का पेट इसे पचा नहीं सकता। फिर मां का शरीर इतनी मात्रा में यह शर्करा बनाता ही क्यों है?

जवाब हाल ही में कुछ वैज्ञानिकों को मिला। उन्होंने पाया कि यह रस उन जीवाणुओं को पोसता है जो शिशु के पेट में रोगाणुओं से लड़ते हैं और शिशु के अपने रोगप्रतिरोध को सहारा देते हैं। मां का दूध मिलते ही शिशु के पेट में 'बिफिडोबैक्टीरिया' नामक जीवाणु आ बसते हैं, जिससे दूसरे रोगाणु आसानी से पैर नहीं जमा पाते। जिन शिशुओं को मां का दूध न मिले, उन्हें मित्र जीवाणु जुटाने में दिक्कत होती है, इसीलिए उनकी रोगप्रतिरोध क्षमता उतनी मजबूत नहीं होती जितनी मां का दूध पीए शिशु की होती है।

एक दूसरे वैज्ञानिक दल ने मां के दूध में ऐसे रस भी ढूंढ़े हैं जो एक खतरनाक रोगाणु को ललचा कर बांध लेते हैं और मल के रास्ते उसे लगभग खदेड़ कर बाहर ले जाते हैं। यह रोगाणु एक अमीबा है जिससे संक्रमण होने पर

जो पेचिश होती है वह बच्चों को क्या, बड़ों को भी मार गिराती है। अगर मां के दूध में जीवाणुओं का इतनी बड़ी भूमिका है, तो फिर क्या आश्चर्य है कि धरती हो या नदियां जीवाणुओं की लीला हर कहीं व्याप्त है!

पहले धरती को ही लीजिए। जो हम अपने शरीर के साथ कर रहे हैं उससे भला मिट्टी कैसे बच सकती है? प्रकृति का नियम है कि जो जीवन मिट्टी से पेड़-पौधों के रूप में उगता है वह प्राणियों के पेट से होता हुआ वापस मिट्टी में ही जाए, मल-मूत्र के रूप में। मिट्टी में ऐसे असंख्य जीवाणु बैठे रहते हैं जो बड़े जीवों के मल-मूत्र को वापस पौधों का भोजन बना देते हैं। सीवर की नालियां इस जीवनदायी उर्वरता को मिट्टी से दूर, मैले पानी को साफ करने के कारखानों की ओर ले जाती हैं। यहां रोगाणुओं को वे एंटीबायोटिक दवाएं कम मात्रा मिलती हैं जो हमारे पेशाब के रास्ते सीवर की नालियों से होती हुई वहां पहुंचती हैं।

इन दवाओं का ज्यादातर हिस्सा पेशाब के साथ निकल जाता है यह बात पेनिसिलिन के शुरुआती दिनों में ही पता थी। एंटीबायोटिक का चलन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हुआ, जब पेनिसिलिन बहुत कम मात्रा में बनती थी। जिन सैनिकों को यह दी जाती थी उनका पेशाब इकट्ठा किया जाता था ताकि उसे सुखा कर उससे दवा निकाली जा सके, किसी घायल सैनिक को देने के लिए।

2009 में एक रोगाणु का उदाहरण मिला था। लुधियाना और दिल्ली के अस्पतालों में 59 साल का एक व्यक्ति भर्ती हुआ था एक फोड़े के इलाज के लिए। एक छोटे-से ऑपरेशन के बाद वह ठीक हो गया और स्वीडन चला गया, जहां वह रहता था। वहां उसे पेशाब की नली में संक्रमण की शिकायत हुई। इलाज करने वाले डॉक्टरों को पता लगा कि उस पर किसी दवा का असर नहीं हो रहा था, सभी दवाएं बेकार साबित हो रही थीं। उसके पेशाब की जांच में निमोनिया का एक ऐसा रोगाणु मिला जो कई एंटीबायोटिक दवाओं के प्रतिरोध की क्षमता रखता था।

वैज्ञानिकों ने, पत्र-पत्रिकाओं ने इसे 'न्यूडेलही सुपरबग' यानी दिल्ली का महारथी रोगाणु कहा। इस नामकरण का हमारे यहां खूब विरोध हुआ। इसे भारत की छवि बिगाड़ने की कोशिश कहा गया। विवाद केवल नाम और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर हुआ, एंटीबायोटिक दवाओं के दुरुपयोग पर नहीं, जिसकी वजह से यह समस्या उठ खड़ी हुई थी। रोगाणु ताकतवर वहीं बनते हैं जहां उन्हें कई तरह की एंटीबायोटिक दवाओं से लड़ना पड़ता है।

अस्पताल ऐसी ही जगह है। कई तरह के रोगाणु मरीजों के साथ अस्पतालों में आते हैं। यहां कई मरीजों को एंटीबायोटिक दवाएं एहतियात के तौर पर दी जाती हैं, चाहे उन्हें वह रोग हो या न हो। अस्पतालों की सफाई के लिए भी कई

तरह के रोगाणुनाशक इस्तेमाल होते हैं। ये सब मिलकर रोगाणुओं के लिए बहुत कठिन हालात पैदा कर देते हैं और ज्यादातर रोगाणु मारे जाते हैं। लेकिन ऐसी कठोर परिस्थितियों में भी जो रोगाणु बच जाता है वह महाबली हो जाता है।

विज्ञान में अब एक भरा-पूरा सिद्धांत है जो कहता है कि हमारी कुछ बीमारियों का कारण अत्यधिक स्वच्छता है। अंग्रेजी में इसे 'हाइजीन हाइपॉथेसिस' कहते हैं।

कोलाइटिस के रोगाणु के रौद्र रूप की उत्पत्ति अमेरिका के अस्पतालों में ही मानी जाती है।

'न्यूडेलही सुपरबग' की व्युत्पत्ति भी हमारे अस्पतालों में मानी जाती है। मुंबई के एक अस्पताल में तीन महीने के भीतर ही इसके 22 रोगी मिले। उत्तर प्रदेश के बिजनौर नगर के एक शिशु चिकित्सालय में सन् 2009 और 2011 के बीच भर्ती हुए कई नवजात शिशुओं में यह पाया गया, जिनमें से 14 की स्थिति गंभीर थी और छह की मृत्यु भी हो गई। लेकिन अब इस सूक्ष्म महाबली के अस्पतालों से दूर फैलने के प्रमाण मिलने लगे हैं। दिल्ली के पीने के पानी में इसके मिलने की रपटें आ चुकी हैं। ऋषिकेश और हरिद्वार में गंगा नदी में यह पाया गया है। पिछले कुछ वर्षों में यह रोगाणु कई और देशों में मिल चुका है। शुरू में यह भारत से यात्रा करके आए लोगों में ही मिलता था। अब इसका संक्रमण वहां भी होने लगा है।

नई दिल्ली के सर गंगाराम अस्पताल के डॉक्टरों और सूक्ष्मजीव वैज्ञानिकों ने ऐसे कई बीमारी फैलाने वाले फफूंद खोज हैं जो किसी भी दवा से मरते नहीं हैं। हमारे देश में तो दवाखानों से दवा लेने के लिए किसी डॉक्टर के लिखे पर्चे की जरूरत तक नहीं होती। बहुत से डॉक्टर भी एंटीबायोटिक लिखने में देर नहीं करते। दवा बनाने वाली कंपनियों का भी चिकित्सकों पर लगातार दबाव रहता है। एंटीबायोटिक दवाओं को स्वास्थ्य मान लिया गया है। आजकल समृद्ध घरों के शौचालय में उड़ेल-उड़ेल कर रोगाणुनाशक डाले जाते हैं ताकि अस्पताल या होटल जैसी सफाई घर पर भी दिखे। कुछ लोग जेब में रोगाणुनाशक द्रव्यों की शीशी रखते हैं और बार-बार उनमें हाथ मल-मल कर साफ करते हैं या एहतियात के तौर पर एंटीबायोटिक साबुन से हाथ धोते हैं। इन उत्पादों को बेचने वाले उद्योग इनका विज्ञापन भी ऐसे करते हैं जैसे स्वच्छता का यही एक मात्र साधन है। साबुन से हाथ धोना तो स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा है यह विज्ञान बताता ही है, खासकर शौच जाने के बाद लेकिन बाजारू एंटीबायोटिक साबुनों की असलियत 'ट्राइक्लोसैन' नामक एंटीबायोटिक की कहानी से उभर कर आती है,

यह एक खास तरह का रोगाणुनाशक है, जिसका इस्तेमाल अस्पतालों में 1970 के दशक में शुरू हुआ। धीरे-धीरे इसका उपयोग साबुन, दांत साफ करने

के पेस्ट अरैर हजामत की क्रीम में भी होने लगा। आज यह दवा हर कहीं इस्तेमाल होती है। रोजमर्रा के उपयोग में आने वाले नहाने के और बर्तन धोने के कई साबुनों में तो क्या, बच्चों के खिलौनों में भी इसे डाला जाता है।

शहरों में रहने वाले अधिकतर लोग इस एंटीबायोटिक के संपर्क में जाने-अनजाने आते ही हैं। अमरीका में परीक्षण होने पर औसतन चार लोगों में से तीन के मूत्र में यह पाया गया है। पेशाब के रास्ते इसका सीवर और फिर जन स्रोतों में जाना तय है। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि ट्राइक्लोसैन पानी में रहने वाले उन बैक्टीरिया और शैवाल के लिए घातक है जो पानी से मैला निकाल करके चट कर जाते हैं।

वैज्ञानिकों यह भी डर सताता रहा है कि ट्राइक्लोसैन से हमारे शरीर का हार्मोन संतुलन गिड़ता है। अगस्त 2012 में एक अमरीकी विज्ञान पत्रिका में एक शोधपत्र छपा कि प्रयोगशाला में पाया गया है कि यह रसायन चूहों की मांसपेशियां कमजोर करता है। अमरीकी सरकार ने इस एंटीबायोटिक पर जांच शुरू करवाई है। वहां की एक राज्य सरकार ने इस पर प्रतिबंध भी लगा दिया है। भारत में आप किसी भी पंसारी की दुकान से ट्राइक्लोसैन का साबुन खरीद सकते हैं।

सफाई का हमारा आधुनिक विचार सूक्ष्म जीवों का जो घोर अनादर करता है, उससे हम कुछ नए तरह के रोगों में भी फंस रहे हैं। चिकित्सा विज्ञान ने अभी इन्हें ठीक से समझा नहीं है। पर कुछ सबूत हैं, कुछ अंदाजे हैं, कुछ परिकल्पनाएं भी। ऐसे रोगों का एक समूह कहलाता है 'एलर्जी'। दमा इन्हीं में से एक है, और पित्ती भी। एलर्जी से होने वाले रोग यूरोप और अमरीका के अमीर देशों में ज्यादा होते हैं, गरीब देशों में कुछ कम। हमारे देश में इनका प्रकोप अब नये आर्थिक विकास के साथ फैल चला है। 1970 के बाद से दमा बहुत तेजी से बढ़ा है। अंदाजा लगाया जाता है कि दुनिया भर में कोई 30 करोड़ लोगों को यह रोग है और हर साल कोई ढाई लाख लोग इसके कारण जान गंवा देते हैं।

1980 के दशक में डेविड प्रिचर्ड नाम के एक अंग्रेज वैज्ञानिक पापुआ न्यू गिनी देश पहुंचे। वे 'हुकवर्म' नामक परजीवी कीड़े का प्रकोप समझना चाहते थे। गर्म देशों में इस परजीवी के खून चूसने से अंदाजन 65,000 लोगों की जान हर साल जाती है और लाखों लोग बीमार और कमजोर हो जाते हैं। किसी परजीवी से होने वाली बीमारियों में इसका नंबर मलेरिया के बाद दूसरे स्थान पर आता है। अपने शोध के दौरान श्री डेविड को यह समझ आया कि जिन लोगों को दमा की शिकायत थी उन्हें हुकवर्म परेशान नहीं करते थे।

इस गुत्थी को वे एक अनोखे तरीके से समझाते हैं। हजारों साल के हमारे क्रमिक विकास के दौरान हमारी रोगप्रतिरोध शक्ति ने परजीवियों और रोगाणुओं

से लड़ना सीखा है। जवाब में हुकवर्म जैसे जीवों ने हमारे रोगप्रतिरोध तंत्र को छकाना भी सीख लिया और चुपचाप हमारे शरीर में रहने लगे हैं। हमारा शरीर भी कुछ रूठते-मनाते हुए उन्हें स्वीकार कर लेता है, उनकी उपस्थिति का आदी हो जाता है, या कह सकते हैं कि उनकी उपस्थित से एकदम अनभिज्ञ रहता है। परंतु कुछ लोगों की रोगप्रतिरोध शक्ति ज्यादा संवेदनशील होती है और वह आज भी इन परजीवियों का विरोध करती है, उन्हें खदेड़ती है। श्री डेविड के अनुसार इन्हीं लोगों को दमा जैसी एलर्जी की शिकायत रहती है।

हमारे रोगप्रतिरोध तंत्र का रोगाणुओं और परजीवियों से संबंध बहुत पुराना, बहुत गहरा है और बहुत जटिल है। इस जटिलता को समझने के कई साल बाद श्री डेविड के मन में एक और ख्याल आया। अगर दमा के रहने से कीड़े गायब हो जाते हैं तो फिर कीड़ों के रहने से दमा भी गायब होना चाहिए। श्री डेविड ने इस पर शोध करने की सरकारी अनुमति मांगी। उन्होंने 15 दमा-पीड़ित स्वयंसेवकों के शरीर में हुकवर्म डाले। सभी 15 लोगों की दमा की शिकायत इसके बाद कम होती गई। कीड़ों की शरीर के भीतर उपस्थिति से उन्हें कोई गंभीर परेशानी का अनुभव नहीं हुआ। इसी दौरान जोएल वाइनस्टॉक नामक एक और वैज्ञानिक के निर्देशन में कुछ प्रयोग हुए, जिनमें एक दूसरे तरह के कृमि परजीवियों का रोगप्रतिरोध तंत्र पर असर जांचा गया। उनके भी नतीजों से यही समझ आया कि हमारे शरीर का कुछ परजीवियों से घनिष्ठ संबंध है। उनसे अगर कुछ नुकसान हैं, तो कुछ फायदे भी हैं।

फिर क्या था, इन प्रयोगों के बाद कई लोगों ने अवैध रूप से दमा के इलाज के लिए हुकवर्म खुलेआम बेचना शुरू कर दिया। इसे वैज्ञानिकों ने खतरनाक बताया। ये प्रयोग छोटे-छोटे समूहों में किए गए हैं, इनकी व्यापक सफलता प्रमाणित नहीं हुई है। एक को इससे लाभ होता है तो जरूरी नहीं है कि दूसरे को भी हो। फिर परजीवियों से कई तरह के नुकसान भी होते हैं। न सिर्फ कीड़े मनुष्य का खून पी कर उसे कमजोर कर सकते हैं, उनकी उपस्थिति रोगप्रतिरोध शक्ति को कमजोर भी कर सकती है। इससे दूसरे रोग होने का खतरा बढ़ जाता है। आखिर लाइलाज रोग एड्स फैलाने वाला वायरस हमारे शरीर की रोगप्रतिरोध शक्ति को ही तो क्षीण करता है।

चाहे श्री डविड और श्री जोएल जैसे वैज्ञानिकों के प्रयोगों से कोई उपचार अभी सामने नहीं आया हो, लेकिन यह तो साफ हो गया है कि एलर्जी का भी हमारे जीवन में स्थान है और कुछ परजीवियों का भी। ये वैज्ञानिक आजकल उन रसायनों की पड़ताल कर रहे हैं, जिन्हें बनाकर ये कीड़े हमारी रोगप्रतिरोध शक्ति को शिथिल कर देते हैं।

विज्ञान में अब एक भरा-पूरा सिद्धांत है जो कहता है कि हमारी कुछ बीमारियों का कारण अत्यधिक स्वच्छता है। अंग्रेजी में इसे 'हाइजीन हाइपॉथेसिस' कहते हैं। जैसे-जैसे इन विषयों की परतें खुल रही हैं, वैसे-वैसे अध्यात्म के कुछ पुराने संदेश नये प्रकाश में दिखने लगे हैं। जो पहले श्रद्धा की आंख से समझा जाता था, आज शोध की दृष्टि भी वही दिखा रही है।

गंगा नदी को ही लीजिए। आजकल बहुत से लोग गंगा की सफाई को लेकर बहुत आंदोलित रहते हैं। वे हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि गंगा हमारी संस्कृति की मां है, एक पवित्र नदी है। इसकी एक बहुत अलग व्याख्या 1896 में एक अंग्रेज वैज्ञानिक अर्नेस्ट हैनबरी हैनकिन ने की थी। वे यह समझना चाहते थे कि गंगा और यमुना का पानी बहुत समय तक रखने पर भी खराब क्यों नहीं होता।

उन्होंने देखा था कि यमुना के पानी में हैजे के रोगाणु तीन घंटे में ही खत्म हो जाते थे। यह बात हमारे यहां के धार्मिक और श्रद्धालु लोग ही नहीं, ईस्ट इंडिया कंपनी के कारिंदे भी जानते थे। इसलिए इंग्लैंड जाने वाले पानी के जहाजों में गंगा का पानी ही रखा जाता था, फिर चाहे वह नदी के किसी दूषित हिस्से से ही क्यों न लिया गया हो। ऐसे राजाओं और रईसों का वर्णन भी मिलता है जो गंगा का पानी ही पीते थे। इनमें हर्षवर्धन और मुहम्मद-बिन-तुगलक से लेकर अकबर और औरंगजेब का नाम भी आता है।

माता का शरीर लाभकारी और रक्षक जीवाणु पालता है। इनसे शिशु का वास्ता जन्म नली में ही होता है, जहां कई लाभकाकारी जीवाणु उसका स्वागत करते हैं और उसके शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा में लग जाते हैं।

श्री अर्नेस्ट ने पेरिस के पॅस्चर संस्थान को एक पत्र लिख कर बताया कि यमुना नदी के पानी में ऐसे तत्व हैं जो हैजे के रोगाणु को मार देते हैं। इसके लिए पानी उन्होंने ऐसी जगह से लिया था जिसके थोड़ा ऊपर हैजे से मरे लोगों के शरीर नदी में पड़े थे। उन्होंने यह भी पाया कि यमुनाजल की यह खूबी पानी उबालने से खत्म हो जाती है। इस तरह का शोध कुछ दूसरे वैज्ञानिकों ने भी किया, जिससे इस तरह के वायरस मिले जो बैक्टीरिया को खा जाते हैं। यूनानी भाषा में इन्हें बैक्टीरिया खाने वाले जीवों की संज्ञा दी गई, 'बैक्टीरियोफैज' या 'फैज'। आगे जाकर यह विज्ञान की एक पूरी विधा बन गई। हमारे यहां रुड़की और लखनऊ के वैज्ञानिकों ने कुछ सालों पहले गंगाजल के परीक्षण में 'फैज' का संकेत पाया है।

कहना कठिन है कि पुराने जमाने में लोगों ने गंगाजल की शुद्धि का कमाल समझा था या नहीं। पर यह तो हमें पता है कि उसे मां के दूध की ही तरह कृतज्ञ

आंखों से देखा जाता रहा है। क्या इसीलिए लोग गंगाजल लाकर अपने तालाब और कुओं में डालते थे? क्या यह जल स्रोतों को गंगाजल का टीका लगाने का भोला-भाला तरीका था?

धर्म ही नहीं, विज्ञान की समझ में भी एक विरोधाभास दिखता है। पिछली सदी में कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी तेजी से तरक्की हुई, लेकिन आज हमारी सफलता ही हमारी मुसीबत बनती जा रही है। अब मनुष्य पृथ्वी के प्रति ठीक वैसा व्यवहार करने लगा है जैसा रोगाणु उसके अपने शरीर के साथ करते हैं। आज हमारी सात अरब से अधिक आबादी उसी व्यवस्था को बिगाड़ रही है जिसने उसे पाला-पोसा है। जैसे रोगाणु से संक्रमण होने पर बुखार आता है वैसे ही हमारे विकास के धुएं से हमारे वायुमंडल का तापमान बढ़ रहा है। पृथ्वी अगर अपनी रोगप्रतिरोध ताकत हम पर छोड़ दे तो हम माटी के पुतलों का क्या होगा?

ऐसा माना जाता है कि उन बच्चों की तुलना में जो बहुत साफ-सुथरे वातावरण में पले हों, मिट्टी में पलने-खेलने वाले बच्चों को दमा होने का खतरा कम होता है। कई तरह के जीवों से उनका संक्रमण होता रहता है, इसलिए उनकी सहनशक्ति मजबूत हो जाती है। ऐसे बच्चे उस मिट्टी के पास रहते हैं जिससे हमारा शरीर बना है। कई संस्कृतियों ने हमारे और मिट्टी के इस संबंध को सुंदर रूपों में याद किया है। 'आदमी' शब्द बना है पुराने यहूदी शब्द 'अदामा' से, जिसका अर्थ है मिट्टी। अंग्रेजी का 'ह्यूमन' भी लैटिन के 'ह्यूमस' से बना है। इसका अर्थ है मिट्टी में पड़ी हुई खाद। जिस मिट्टी से हम बने हैं, उसके प्रति केवल शोध का भाव रखना हमारा उथलापन होगा। उसमें थोड़ी-सी खाद श्रद्धा की भी डालनी होगी। तभी हम कुछ गहरे जा पाएंगे, कुछ ऊंचे उठ पाएंगे।

(गांधी शांति प्रतिष्ठान की शोधवृत्ति से तैयार हुई लेखक की अनुपम-कृति 'जल थल मल' के एक अध्याय का संपादित स्वरूप)

*

दस्तावेज-1

प्लेग!

○ गांधीजी

यह सुविख्यात उपन्यासकार आल्बेयर कामू का उपन्यास नहीं, मोहनदास करमचंद गांधी का 1917 में लिखा लेख है जिसमें वे प्लेग की महामारी का मुकाबला करने के लिए लोगों को सावधान व शिक्षित करते हैं। आप देखेंगे कि महामारी कोई भी हो– कोरोना भी हो– स्वस्थ रहने, प्रतिरोध क्षमता बढ़ाने के कुछ बुनियादी उपाय समान ही होते हैं। लेकिन कहानी यहां से नहीं, दक्षिण अफ्रीका से शुरू होती है

"**अचानक** भयंकर महामारी फूट निकली। यह महामारी प्राणघातक थी। यह फेफड़ों की महामारी थी। गांठ वाली महामारी की तुलना में यह अधिक भयंकर मानी जाती थी। तेईस लोगों को अचानक छूत लगी और एक दिन शाम को भयंकर महामारी के शिकार बनकर वे अपने घरों पर आए।

"उस समय भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन' के ग्राहक बनाने और चंदा वसूल करने के लिए वहां आए थे। उनमें निर्भयता का बढ़िया गुण था। ये बीमार उनके देखने में आए और उनका हृदय व्यथित हुआ। उन्होंने पेंसिल से लिखी एक पर्ची मुझे भेजीः 'यहां अचानक भयंकर महामारी फूट पड़ी है। आपको तुरंत आकर कुछ करना चाहिए, नहीं तो भयंकर परिणाम होगा। तुरंत आइए।'

"मैं साइकल से लोकेशन पहुंचा।

"मदनजीत ने खाली मकान का ताला निडरतापूर्वक तोड़कर, उस पर कब्जा कर लिया था, और उसमें बीमारों को रख दिया था। मैंने टाउन-क्लर्क को सब जानकारी भेजी। डॉ. विलियम गॉडफ्रे जोहानिसबर्ग में डॉक्टरी करते थे। समाचार मिलते ही वे दौड़े आए और बीमारों के डॉक्टर व नर्स का काम करने लगे। पर हम 3 आदमी 23 बीमारों को संभाल नहीं सकते थे।

"अनुभव के आधार पर मेरा यह विश्वास बना है कि भावना शुद्ध हो तो संकट का सामना करने के लिए सेवक व साधन मिल ही जाते हैं। शुश्रूषा की वह रात भयानक थी। मैंने बहुत से बीमारों की सेवा-शुश्रूषा की थी पर प्लेग के बीमारों की सेवा शुश्रूषा करने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला था। डॉ. गॉडफ्रे की हिम्मत ने मुझे निडर बना दिया था। दवा देना, ढाढ़स बंधाना, पानी पिलाना और उनका मल-मूत्र आदि साफ करना, इसके सिवा विशेष कुछ करने को तो था ही नहीं।

"मकान मैला व गंदा था। मैंने खुद ही उसे साफ किया। एक कामचलाऊ अस्पताल खड़ा कर लिया। म्युनिसिपैलिटी ने एक नर्स भेज दी और उसके साथ ब्रांडी की बोतल और बीमारों के लिए अन्य आवश्यक वस्तुएं भेजीं। बीमारों को समय-समय पर ब्रांडी देने की सूचना थी। छूत से बचने के लिए नर्स हमें भी थोड़ी ब्रांडी लेने को कहती थी और खुद भी लेती थी। हममें से कोई ब्रांडी लेने वाला न था। मुझे तो बीमारों को भी ब्रांडी देने में कोई श्रद्धा न थी। मैंने तीन बीमारों पर, जो राजी थे, मिट्टी का प्रयोग शुरू किया। उनके माथे और छाती में जहां-जहां दर्द होता था, वहां-वहां मिट्टी की पट्टी रखी। इन तीन बीमारों में से दो बचे, बाकी सारे बीमार इसी गोदाम में चल बसे। कुछ दिनों बाद हमें मालूम हुआ कि उक्त भली नर्स को भी महामारी हो गई और उसी में उसका देहांत हुआ। उस समय मुझ पर जो छाप पड़ी थी, जो अभी तक बनी हुई है। उसे मैं मिटा नहीं सकता।

"मैंने समाचार-पत्रों के लिए एक कड़ा पत्र लिखा और म्युनिसिपैलिटी की लापरवाही और महामारी के लिए उसकी जवाबदारी की चर्चा की। मैंने और मेरे साथी सेवकों ने महामारी के दिनों में अपना आहार घटा लिया था। जब आसपास महामारी की हवा हो तब पेट जितना हल्का रहे, उतना ही अच्छा। यद्यपि बीमारों की सेवा शुश्रूषा से मैं और मेरे साथी मुक्त हो चुके थे फिर भी महामारी की जिम्मेवारी तो सामने थी ही। म्युनिसिपैलिटी गोरों के आरोग्य के विषय में चौबीसों घंटे जाग्रत रहती थी, हिंदुस्तानियों के प्रति उसके व्यवहार में बहुत दोष थे। फिर भी गोरों के लिए बरती गई इस सावधानी के लिए मैं म्युनिसिपैलिटी का आदर किए बिना नहीं रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्न में मुझसे जितनी मदद बन पड़ी, मैंने दी। मैं मानता हूं कि मैंने वैसी मदद न दी होती, तो म्युनिसिपैलिटी के लिए काम मुश्किल हो जाता और कदाचित वह बंदूक के बल का उपयोग करती— करने में हिचकिचाती नहीं— और अपना चाहा सिद्ध करती। पर वैसा कुछ नहीं हुआ। मैंने हिंदुस्तानियों पर अपने प्रभाव का पूरा-पूरा उपयोग किया। मुझे याद नहीं पड़ता है कि उनमें से एक ने भी मेरी बात को टाला हो। जिस दिन लोकेशन खाली किया गया उसके दूसरे दिन उसकी होली की गई। म्युनिसिपैलिटी ने उसकी एक भी चीज बचाने का लोभ नहीं किया। खर्च तो बहुत हुआ पर परिणाम यह

हुआ कि महामारी आगे बिल्कुल न बढ़ सकी। शहर निर्भय बना।" **('आत्मकथा' से)**

यही अनुभव था जो 1917 में, भारत में काम आया जब प्लेग की महामारी फैली। फिर गांधी ने वही सूत्र अपनाया– महामारी से संरक्षण के साधन व ज्ञान जनता को देकर सरकार पीछे हट जाए! लोग अपनी बुद्धि व कुशलता का इस्तेमाल कर हर संकट व बेहतर मुकाबला कर सकते हैं यदि नौकरशाही, स्वार्थी राजनीति और भ्रष्ट व्यवस्था बीच से निकल जाए। कोरोना-काल में हम इन तीनों ताकतों को खुलकर खेलते देखते हैं।

गांधीजी 1917 के अपने लेख में आगे की सावधानियों के बारे में लिखते हैं:

इसे कैसे रोका जाए–

1. मनुष्य का रक्त यदि स्वच्छ हो तो उसमें प्रत्येक रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति होती है।

2. इसलिए, यदि हम अपने शरीर को स्वस्थ रखें तो चाहे कितनी ही भयंकर महामारी क्यों न फैली हो, रक्त की स्वच्छता के कारण हम सुरक्षित रह सकते हैं।

3. रक्त को स्वच्छ बनाए रखने के लिए मनुष्य को सदा, अल्प तथा नियमित भोजन करना चाहिए। अत्यधिक चर्बीयुक्त, मीठी अथवा चटपटी खुराक वर्जित है। सोने से पहले कम-से-कम तीन घंटे तक मनुष्य को कुछ खाना नहीं चाहिए। हवा भी खुराक है। इसलिए ऐसे कमरे में सोना चाहिए जिसमें खिड़की और दरवाजे हों; खिड़की-दरवाजे खुले रखने चाहिए और सिर पर चादर लपेट कर नहीं सोना चाहिए। सिर को सर्दी लगे तो टोपी पहनकर सोओ, लेकिन मुंह चादर से बाहर ही रखना चाहिए। श्वास मुंह से नहीं, नाक से लेनी चाहिए। नाक से श्वास लेने में तनिक भी सर्दी लगने की संभावना नहीं होती। पानी भी साफ होना चाहिए। हमेशा उबला तथा मोटे कपड़े से छना हुआ पानी पीना अच्छा है। कपड़े को बहुत सावधानी से धोना चाहिए। उसी प्रकार गागर, कलश आदि भी प्रतिदिन अंदर से अच्छी तरह साफ किए जाने चाहिए। दो घंटे पैदल चलने पर जितना श्रम होता है, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रतिदिन उतनी कसरत करना जरूरी है।

4. शरीर को उपयुक्त विधि से निरोग रखने के बावजूद यदि घर और आसपास का वातावरण स्वच्छ न हो तो भी रक्त के दूषित होने की संभावना हैं घर की खिड़कियां, दरवाजे, छत, जमीन, सीढ़ियां, संक्षेप में प्रत्येक भाग को बराबर साफ किया जाना चाहिए, अर्थात धोने योग्य भाग को अच्छी तरह से धोने के बाद सूखने देना चाहिए। मकड़ी का जाला, धूल, घास और कूड़े-करकट को अच्छी तरह बुहारकर घर से बाहर फेंक देना चाहिए। घर के किसी भाग में सीलन न रहे, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। कालीन और दरी आदि को भी प्रतिदिन झाड़ना चाहिए और (उन्हें) हमेशा एक ही जगह पर नहीं बिछाना चाहिए। डॉक्टरों का कहना है कि प्लेग पिस्सुओं की मारफत फैलता है। स्वच्छ घर में, जहां हवा और उजाला

काफी मात्रा में हो, वहां पिस्सू कदाचित ही आएंगे। उनका यह भी कहना है कि प्लेग चूहों से होता है। इसलिए मनुष्य को घर के कोनों के पलस्तर आदि की अच्छी तरह से जांच करके, कहीं भी बिल न रहने पाए, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। यह काम ऐसा है कि इसे आसानी से और बिना किसी खर्च के किया जा सकता है। सिर्फ हमारे आलस्य के कारण ही चूहे हमारे घरों में बिल बनाकर रह सकते हैं। घर की बिल्ली पालने से चूहों का आना रुक सकता है।

5. लेकिन हिंदुस्तान में इस रोग के होने का सबसे बड़ा कारण हमारी जंगल जाने की खराब और अत्यंत हानिकारक टेव है। बहुत से लोग बाहर जाते हैं और मैले को मिट्टी अथवा अन्य रीति से ढंकते नहीं हैं, जिसके फलस्वरूप करोड़ों मक्खियां पैदा होती हैं और वे मक्खियां मैले पर बेठने के बाद हमारे शरीर, हमारे वस्त्रों और हमारे भोजन पर भी बैठती हैं। मैले से अनेक प्रकार की विषैली गैस पैदा होती है और आसपास के वातावरण को बिगाड़ती है। मनुष्यों की सर्वोत्तम खुराक, हवा जब दूषित हो जाती है तब उनका शरीर स्वस्थ रह नहीं नहीं सकता। हमारे पाखानों का मैल भी इतना ही अथवा इससे भी अधिक हानिकारक है, क्योंकि वह तो अपने घर में ही होता है। इसलिए यदि हम बाहर शौच करने के लिए जाएं तो जैसे अन्य देशों के लोग गड्ढे खोद कर शौच करने के बाद मैले को मिट्टी से ढंक देते हैं, हमें भी वैसा ही करना चाहिए। पाखानों की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे हर बार शौच करने के बाद हम मैले को अच्छी तरह से सूखी मिट्टी से ढंक सकें। मैला किसी तरह की बाल्टी में इकट्ठा किया जाना चाहिए। कूड़ा-स्थानों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। तथा मोरी मात्र बंद की जानी चाहिए। पेशाब और पानी भी बाल्टी में इकट्ठा किया जाना चाहिए। यदि हम मिथ्या धर्म के भ्रम में न पड़ें तो हम एक दिन भी नरक के समान इस गंदगी को सहन न करें। पाखानों की रचना ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक भाग में भंगी प्रवेश कर सके। इन सुधारों को बिना हिंदुस्तान के नगर कभी भी छूत के रोगों से मुक्त नहीं हो सकते।

6. रास्तों में चाहे जहां पेशाब करने, थूकने, गोबर और अन्य कूड़ा-करकट आदि फेंकने से भी हवा दूषित होती है। डॉक्टरों ने खोज की है कि कुछ-एक (ऐसे) रोगी– उदाहरण के तौर पर–क्षय रोग से ग्रसित व्यक्ति रास्ते में थूकते हैं। इससे भी क्षय के कीटाणु फैलते हैं और अन्य लोगों को रोग की छूत लग जाती है। हमें किन स्थानों पर शौचादि क्रियाएं करनी चाहिए इस बात पर हमें अवश्य विचार करना चाहिए। इस देश में करोड़ों मनुष्य नंगे पांव चलते हैं। इन व्यक्तियों को मैले के ऊपर चलना पड़े, (क्या) यह अत्यंत दुख की बात नहीं है? हमारी सड़कें, हमारी गलियां, हमारे आंगन इतने स्वच्छ होने चाहिए कि हमें वहां बैठना अथवा सोना पड़े तो तनिक भी हिचकिचाहट न हो।

जिन शहरों में अंग्रेज रहते हैं वहां प्लेग का भारी प्रकोप हो जाने पर भी उनकी बस्तियां (इससे) मुक्त रहती हैं, उसका क्या कारण है यह बात खूब विचार करने योग्य है। इसका कारण इन बस्तियों का स्वच्छ होना ही है और कुछ नहीं। स्वच्छता रखने में पैसे की जरूरत नहीं, विवेकपूर्वक सावधानी की आवश्यकता है।

उपचार:

7. जिन शहरों में उपर्युक्त नियमों का बराबर पालन किया जाएगा उन शहरों में प्लेग का रोग प्रवेश नहीं कर सकता। लेकिन जहां इसका प्रवेश हो गया हो वहां क्या किया जाए, अब हम इस पर विचार करते हैं। पहला काम तो यह है कि जहां प्लेग देखने में आए वहां उसके कारण का पता लागाएं। चूहों की खोज करें, मरे हुए चूहे हों तो उन्हें चिमटे से पकड़, दूर ले जाकर घास और मिट्टी का तेल डालकर जला दें अथवा जहां मनुष्यों का वास न हो उस स्थान पर गहरा गड्ढा खोदकर उन्हें दबा दें। जिस स्थान से मरे हुए चूहे मिले हों उस स्थान पर गर्म राख छिड़कनी चाहिए तथा सफेदी की जानी चाहिए। उस कमरे की तुरंत खाली करके, साफ करें और फिर नीम की पत्तियां का धुआं दें। यदि दीवारें सफेदी करने लायक हों तो उन पर सफेदी की जानी चाहिए। घर में बिल हो तो उसमें मरे हुए चूहे तो नहीं हैं, इस बात का निश्चय करके बिल को पाट देना चाहिए। घर में किसी स्थान पर और बिल हो तो उनकी भी वैसी ही व्यवस्था करनी चाहिए। खिड़की और दरवाजे खुले रखे जाएं तथा (घर में) खूब उजाला और गर्मी आने दी जाए; छत यदि खपरैल से ढकी हो तो खपरे हटा दिए जाने चाहिए जिससे हवा और उजाला प्रवेश पा सकें। घर को इस प्रकार साफ करने के बाद हम उसे छोड़ दें और यदि संभव हो तो खुले मैदान में तंबू तानकर अथवा झोंपड़ी बनाकर रहें। गांव के अन्य व्यक्तियों का स्पर्श न करें और वस्तुएं आदि खरीदते समय भी दुकानदार के साथ सावधानीपूर्वक व्यवहार करें। इस रीति से यदि तुरंत उपचार किया जाएगा तो प्लेग नहीं फैलेगा। इस प्रकार प्लेग की छूत से पीड़ित परिवार की मारफत प्लेग का उस अथवा किसी स्थान पर भी प्रवेश नहीं हो सकता। इस प्रकार 31 दिन बाहर रहने के बाद, शहर में किसी अन्य स्थान पर प्लेग का प्रकोप न हुआ हो, और उक्त घर में मरे हुए चूहे देखने में न आएं तो परिवार वापस अपने घर में जाकर रह सकता है।

8. जिस गांव में प्लेग फैलने लगे उस गांव के अन्य व्यक्तियों को चाहिए कि वे अपनी घरों की छानबीन कर लें। सारे सामान को बाहर निकालकर, चूहों की खोजबीन करें। यदि मरा हुआ चूहा देखने में आए तो ऊपर दी गई सलाह के अनुसार बाहर जाकर रहें। मरे हुए चूहे दिखाई न पड़ें तो भी घर को खूब साफ-सुथरा बनाए रखें। घर की सफेदी करवाई जानी चाहिए। हवा के आने-जाने की व्यवस्था न हो तो घर में वैसा सुधार करें और घर के आसपास भी पूरी सफाई

रह सके, ऐसे उपाय किए जाने चाहिए। पड़ोसियों के घर साफ न हों तो ऐसी तजवीज करनी चाहिए कि वे भी साफ कर दिए जाएं।

9. रोगी को घबराने न दें। उसके पास (उसकी) सेवा-सुश्रूषा करने वाले व्यक्ति के अलावा और किसी को भी मत जाने दीजिए। उसे ऐसे कमरे में रखिए जहां उसे पुष्कल हवा और उजाला मिले। सार्वजनिक अस्पताल हो तो उसे वहां ले जाइए। भोजन एकदम बंद कर दें। प्लेग के आसार नजर आते ही उसे खुराक न दी जाए और तीन घंटे बीत गए हों, तो एनीमा दें। रोगी को ठंडे पानी के टब में, दो मिनट अथवा उससे भी अधिक, पसंद करे तो पांच मिनट तक, इस प्रकार बैठाइए कि उसके पैर और छाती आदि पानी से बाहर रहे तथा घुटने से जांघ तक का भाग पानी में रहे। रोगी को प्यास लगे तो उबला, छना हुआ और ठंडा पानी, जितनी रोगी की जरूरत हो उतना दें। इसके अलावा अन्य कोई भी पेय पदार्थ न दें। माथा बहुत गरम हो तो उस पर मिट्टी की पट्टी अथवा ठंडे पानी की पट्टी रखिए। इतने इलाज से संभव है कि रोगी मौत के भय से मुक्त हो जाए। यदि वह दूसरे दिन तक जीवित रहे और उसे भूख लगे तो नीबू अथवा नारंगी के रस में गरम अथवा ठंडा पानी मिलाकर रोगी को पीने के लिए दीजिए। बुखार उतरने के तुरंत बाद दूध शुरू कीजिए। शरीर में गांठ हो तो उस पर गरम पानी की पट्टी रखें और उसे समय-समय पर बदलते रहे। डेढ़ फुट लंबा और नौ इंच चौड़ा मोटा कपड़ा लेकर उसे गरम पानी में अच्छी तरह से भिगोइए; फिर उसे सूखे रूमाल पर रखकर निचोड़ें तथा जितना रोगी सहन कर सके उतना गरम, चार तहें लगाकर गांठ पर रखकर पट्टी बांध दें। इस पुल्टिस को हर तीस मिनट के बाद बदलिए। इस रोग में हृदय बहुत दुर्बल हो जाता है इसलिए उसे पूरा आराम दिया जाए।

10. सार-संभाल करने वाला व्यक्ति अन्य लोगों से अलग रहे और दूसरे कामों को, जिनमें (अन्य) व्यक्तियों के हाथ लगते हों, करना छोड़ दें। अपने शरीर की रक्षा के लिए खुराक की मात्रा बहुत कम कर दें और शरीर का बराबर ध्यान रखें। चिंता बिलकुल न करें। यदि उसे पाखाना न आता हो तो वह एनीमा लेकर अंतड़ियों को साफ करे और मात्र फलाहार करे।

11. रोगी के कपड़े नदी अथवा ऐसे स्थान पर जहां अन्य (लोगों के) कपड़े धोये जाते हों, न धोयें। उन्हें उबलते हुए साबुन के पानी में डुबाने के बाद धोइए। अगर वे अत्यंत गंदे हो गए हों तो उन्हें जला दें। लिहाफ आदि का किसी और व्यक्ति को उपयोग नहीं करना चाहिए– और यदि वे साफ हों तो आठ दिन तक रोज धूप में सुखाए जायं, वह भी इस प्रकार कि दोनों ओर धूप लगे। अगर उसे जला देने की सामर्थ्य हो तो जला ही दें।

(6 दिसंबर 1917, नडियाद, गुजरात)

*

हम और हमारे मजदूर

○ गांधीजी

सड़कों पर असहाय, निरुपाय मजदूर हैं– असंख्य, अनगिनत! उनके पास अपना कुछ नहीं है सिवा अपने हाथ-पांव के, और जीने की जिद के! इन्हीं हाथ-पांवों ने, इसी जिद ने यह दुनिया संवारी है, हमारा समाज बनाया है, हमारे घरों को चलाया है। ...इनकी दुरावस्था और इनकी अकल्पनीय यात्रा को टीवी पर देखकर हम द्रवित होते हैं लेकिन श्रम कानूनों में जैसा अविवेकपूर्ण व हृदयहीन परिवर्तन कोरोना की आड़ में किया गया है, उस बारे में चुप्पी साध लेते हैं तो हम नकली भी साबित होते हैं और घर से लेकर देश तक को मुसीबत में डालते हैं। गांधीजी कहते हैं: आंसू नहीं, आस्थापूर्ण अक्ल ही हमारे मजदूरों को समर्थ व संपन्न बना सकती है

हिंदुस्तान के सम्मुख आज दो रास्ते हैं– या तो वह पश्चिम की नीति को यानी इस सिद्धांत को स्वीकार कर ले कि "जिसकी लाठी उसकी भैंस", अर्थात शक्ति ही सत्य है! सत्य ही शक्ति है, सो नहीं। या फिर वह पूरब के सिद्धांत को मान्य करे कि जहां धर्म है, वहां ही जय है; सांच को आंच नहीं; निर्बल और सबल, दोनों को न्याय प्राप्त करने का समान अधिकार है।

इन दो नीतियों में से किसी एक का चुनाव करने के इस कार्य का श्रीगणेश मजदूर-वर्ग को करना है। यदि हिंसा द्वारा वेतनों में वृद्धि करानी संभव हो तो क्या उन्हें ऐसा करना चाहिए? उनका अधिकार चाहे जैसा हो, हिंसा का सहारा लेना कदापि उचित नहीं होगा। हिंसा का रास्ता आसान तो

लगता है, लेकिन अंततः दुरूह सिद्ध होता है। जो तलवार चलाते हैं वे तलवार से ही मरते हैं। तैराकों की मृत्यु बहुधा पानी में ही होती है।

यूरोप की ओर देखो। वहां कोई भी सुखी दिखाई नहीं देता, क्योंकि किसी को संतोष ही नहीं है। मजदूरों को मालिकों पर और मालिकों को मजदूरों पर विश्वास नहीं है। दोनों में एक तरह की शक्ति है लेकिन वह तो भैसों में भी होती है और वे मरते दम तक लड़ते ही रहते हैं। हर तरह की गति प्रगति नहीं होती है। यूरोप की जनता आगे बढ़ती जाती है, ऐसा मानने का ऐसा कोई कारण नहीं है। उसके पास धन है, इसका यह मतलब नहीं कि उसके पास नीति और धर्म भी है। दुर्योधन के पास बहुत धन था, लेकिन वह विदुर और सुदामा की अपेक्षा गरीब था। विदुर और सुदामा की आज विश्व पूजा करता है। दुर्योधन का नाम हम उसके दुर्गुणों का त्याग करने की खातिर ही लेते हैं।

तब हमें क्या करना चाहिए? बंबई में मजदूरों ने बहुत बल दिखाया। (20 जनवरी, 1920 की बंबई के मिल-मजदूरों ने हड़ताल का संदर्भ है)। मुझे सारे तथ्यों को जानने का अवसर नहीं मिला, लेकिन मैं यह तो देख सका कि वे (उससे भी) अधिक अच्छे ढंग से लड़ सकते थे। हो सकता है, सारा दोष मालिकों का रहा हो। सामान्यतया कहा जा सकता है कि मालिक-मजदूरों के झगड़े में अक्सर मालिकों का अन्याय ज्यादा होता है। लेकिन जब मजदूरों को अपने बल का पूरा भान हो जाएगा तब, मैं समझ सकता हूं, बल्कि मैं देख सकता हूं कि वे मालिकों से भी अधिक अन्याय कर सकेंगे। मजदूरों में यदि मालिकों जितना ज्ञान आ जाए तो मालिकों को मजदूरों की शर्तों के अनुसार ही काम करना पड़े। यह बात तो स्पष्ट है कि मजदूरों में ऐसा ज्ञान कभी भी नहीं आ सकता। वैसा होगा, तब मजदूर मजदूर रहेंगे ही नहीं, मालिक ही हो जाएंगे। मालिक केवल पैसे के बल पर ही नहीं जूझते, उनमें अक्ल, चतुराई आदि भी रहती है।

इसलिए हमारे सम्मुख यह सवाल है कि मजदूरों को– वे जैसे हैं वैसे रहते हुए भी, उनमें कुछ विशेष आचरण आने के बावजूद– किस तरह व्यवहार करना चाहिए? मजदूर अपनी संख्या अथवा अपने बाहुबल पर अर्थात हिंसा पर आधार रखेंगे तो वे आत्महत्या करेंगे और देश के उद्योग को नुकसान पहुंचाएंगे। यदि वे केवल न्याय पर दृढ़ रहकर, न्याय प्राप्त करने के लिए दुख सहन करेंगे तो वे हमेशा विजय प्राप्त करेंगे। इतना ही नहीं, बल्कि मालिकों को सुधारेंगे, उद्योगों में वृद्धि करेंगे और मालिक तथा मजदूर दोनों

एक परिवार के सदस्यों की तरह रहेंगे। मजदूरों की स्थिति पर विचार करते समय निम्नलिखित बातों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिएः

1. काम के घंटे इतने ही होने चाहिए जिससे मजदूर लोगों के पास आराम का समय बचे रहे।

2. वे शिक्षा प्राप्त कर सकें, ऐसे साधन होने चाहिए।

3. उनके बच्चों को जितना आवश्यक है उतना दूध, कपड़ा और पर्याप्त शिक्षा मिलने के साधन प्राप्त होने चाहिए।

4. मजदूरों के रहने के घर स्वच्छ होने चाहिए।

5. ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि बूढ़े होने तक वे इतना बचा सकें, जिससे बुढ़ापे में उनका निर्वाह हो सके।

आज इनमें से एक भी शर्त का पालन नहीं किया जाता। इसमें दोनों पक्षों का दोष है। मालिक सिर्फ मजदूरी से संबंध रखते हैं। मजदूरों का क्या होता है, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। सामान्यतः उनका सारा प्रयत्न कम-से-कम वेतन देकर अधिक-से-अधिक काम लेने का होता है। (दूसरी ओर) मजदूर ऐसी युक्तियां रचते रहते हैं कि अधिक-से-अधिक वेतन लेकर कम-से-कम काम किस तरह किया जाए।

परिणाम यह है कि मजदूरों के वेतन में वृद्धि होती है, फिर भी काम में सुधार नहीं होता। दोनों के बीच के संबंध निर्मल नहीं होते और मजदूर अपनी वेतन वृद्धि का सदुपयोग नहीं करते।

इन दोनों पक्षों के बीच तीसरा पक्ष उठ खड़ा हुआ है। वह मजदूरों का मित्र बन गया है। इस पक्ष की जरूरत है। उसमें जिस हद तक मैत्री-भावना है, केवल परमार्थ की दृष्टि है, उस हद तक ही वह मजदूरों का मित्र बन सकता है।

अब ऐसा समय आ रहा है जब मजदूरों को कई तरह से गोटी की तरह इस्तेमाल करने का प्रयत्न किया जाएगा। राजनीतिक क्षेत्र में भाग लेने वाले व्यक्तियों को इस स्थिति पर विचार करना चाहिए। वे क्यों करेंगे? अपना स्वार्थ देखेंगे अथवा मजदूरों की और कौम की सेवा करेंगे? मजदूर को मित्रों की आवश्यकता है। मजदूर सहारे के बिना आगे नहीं बढ़ सकते। ये सहारा देने वाले लोग कैसे हैं, इस पर मजदूरों की स्थिति का दारोमदार होगा।

काम बंद करना, 'स्ट्राइक' तथा हड़ताल करना, ये चमत्कारी वस्तुएं हैं, लेकिन इनका दुरुपयोग करना कठिन नहीं है। मजदूरों को मजबूत यूनियनों, संघों की स्थापना करनी चाहिए और संघ की अनुमति के बिना हड़ताल नहीं

की जानी चाहिए। हड़ताल करने से पहले मालिकों के साथ सलाह-मशविरा भी करना चाहिए। यदि मालिक पंच नियुक्त करें तो पंचायत के सिद्धांत को स्वीकार करना चाहिए और पंच की नियुक्ति होने पर उसका निर्णय दोनों को, पसंद आए या न आए, स्वीकार करना चाहिए।

'नवजीवन' के पाठको, आप यदि मजदूरों की स्थिति सुधारने में दिलचस्पी लेते हों, मजदूरों के मित्र बनना चाहते हों, उनकी सेवा करना चाहते हों तो आप उपर्युक्त विचारों को पढ़कर समझ सकेंगे कि आपके सामने एक ही राजमार्ग है— दोनों पक्षों के बीच कौटुंबिक सौहार्द पैदा करके, मजदूरों को ऊंचा उठाना। वैसा करने के लिए सत्याचरण के समान अन्य कोई सीधा रास्ता नहीं है। मजदूरों को अधिक वेतन मिले, केवल इससे ही आपको संतोष नहीं होना चाहिए। आपको इस बात की भी जांच करनी चाहिए कि वे किन साधनों द्वारा अधिक वेतन पाते हैं और वे उसका क्या उपयोग करते हैं।

(नवजीवन, 8 फरवरी 1920)

*

किसके हैं ये प्रवासी मजदूर

बातचीत

○ पी. साईंनाथ

कभी हम सड़कों पर भीड़ देखा और गिना करते थे; अब मजदूर देख रहे हैं! गिन नहीं रहे हैं क्योंकि ऐसी गिनती किसी स्कूल में न पढ़ाई जाती है, न सिखाई जाती है। इनके जाने का बहुत दुख है देश को क्योंकि इनके वापस न आने की आशंका से सभी डरे हुए हैं। जो डरा हुआ है वह न दोस्ती कर सकता है, न प्यार!! ग्रामीण अर्थतंत्र के गहन अध्येता पी. साईंनाथ से कोरोना के संदर्भ में खास बातचीत

■ ***मध्यप्रदेश के 16 मजदूरों की महाराष्ट्र के औरंगाबाद में, रेल की पटरी पर सोते रहने की वजह से रेलगाड़ी से कट कर मौत हो गई। हम सबके मन में पहला सवाल तो यही आया कि ये लोग पटरी पर क्यों सोए थे? हमारा पहला सवाल यह नहीं था कि सैकड़ों-हजारों किलोमीटर की पैदल यात्रा करने पर इन्हें किसने मजबूर किया? इससे हमारी कैसी तस्वीर बनती है आपके मन में?***

आप अखबार उठा कर देखिए न, तस्वीर तो अपने आप बन जाएगी! आपने किसी अंग्रेजी अखबार में यह देखा भी क्या कि जो ट्रेन से कुचलकर मारे गए उनके नाम क्या थे? इतनी जहमत भी हमारे अंग्रेजी अखबारों ने नहीं उठाई। किसी रिपोर्ट में न तो उनके नाम थे, न उन सबका चेहरा था। यह है गरीबों के प्रति हमारा रवैया! यदि ऐसी ही कोई विमान दुर्घटना हुई होती तो तुरंत हेल्पलाइन खुल जाती, तस्वीरें छप जातीं और आपको दुर्घटना के बारे में वह सारी जानकारी बगैर पूछे मिल जाती जिसे

आप जानना चाहते। मरने वालों की संख्या भले 300 होती, सबके नाम अखबारों में सविस्तार छपते, और पता नहीं, कितनों के शोक-संदेश के साथ!! लेकिन ये सब तो मध्यप्रदेश के 16 गोंड आदिवासी थे। इनकी किसको पड़ी है? वे रेल-पटरी के रास्ते चल रहे थे ताकि घर की दिशा न भटक जाएं; और कहीं यह मासूम ख्याल भी रहा होगा मन में कि क्या पता, नसीब अच्छे हों तो रास्ते के किसी स्टेशन से उन्हें ट्रेन भी मिल जाए। रेल-पटरी पर बैठकर ही उन्होंने अपनी रोटी भी खाई और वहीं सो भी गए। इसलिए नहीं कि आराम करना था बल्कि इसलिए कि वे थक कर ऐसे चूर हो गए थे कि उठ-चल भी नहीं सकते थे। और उन्हें शायद यह भी लगा हो कि ट्रेनें तो सारी बंद हैं! उन्हें कहां पता था कि उनको ले जाने वाली ट्रेनें तो जरूर बंद हैं, उन्हें मार डालने वाली ट्रेनें बंद नहीं हैं।

■ ***हमारे देश में श्रमिकों का वर्ग बहुत बड़ा है। सरकार जिस तरह उनसे संवाद कर रही है या जिस तरह वह उन तक जानकारियां पहुंचा रही है, उस बारे में आपका क्या कहना है?***

135 करोड़ की जनसंख्या के देश को पूरी तरह बंद करने के लिए हमने केवल चार घंटे का समय दिया। सुप्रसिद्ध पूर्व सरकारी अधिकारी श्री एम. जी. देवसहायम ने बहुत ठीक कहा कि "किसी चुस्त और पूरी तरह तैयार सैन्य- टुकड़ी को भी किसी बड़े अभियान के पहले चार घंटे से ज्यादा ही का समय दिया जाता है!" हम इन प्रवासी श्रमिकों से सहमत हों या ना हों, उनका अपने घरों को लौटना तो पूरी तरह जायज था न! वे जानते हैं - और यह साबित भी हो रहा है - कि हम उद्योगपति और मध्यम वर्ग के नागरिक कितने बेईमान, विवेकशून्य और क्रूर हैं। हमने उनके घर लौटने पर भी प्रतिबंध लगा दिया! इससे साबित तो वही हुआ न कि हम व हमारी सरकार कितनी बेईमान, विवेकशून्य और क्रूर है।

अफरातफरी में लिये गए आपके फैसले ने अफरातफरी को जन्म दिया। आपकी वजह से पूरे देश में भगदड़ मच गई और लाखों लोग रास्तों पर आ गए। इन सबकी जरूरत ही कहां थी! बड़ी साधारण-सी बात थी और बहुत आसान भी थी कि हम शादी के हॉलों, स्कूलों- कॉलेजों को, खेल के मैदानों को, जो इन दिनों पूरी तरह से बंद ही पड़े हैं, राहत केंद्रों में बदल देते। वहां लोगों के रहने लायक व्यवस्था बना देते और घोषणा कर देते कि जिसे भी आवास-भोजन-पानी की दिक्कत हो, वे सब यहां आ जाएं। आखिर हमने घर लौटने वाले विदेशी यात्रियों के लिए पांच सितारा महंगे होटल उपलब्ध करवाए ही हैं न!

आज जब श्रमिक घर लौट रहे हैं तो उनसे भी पूरा किराया वसूला जा रहा है। विशेष वातानुकूलित और राजधानी ट्रेनें तो 4500 रुपये तक वसूल रही हैं। हद तो यह हो गई कि आप यह मान रहे हैं कि देश में सभी के पास स्मार्टफोन हैं और इसलिए उन्हें अपना टिकट ऑनलाइन ही लेना चाहिए। और फिर भी कर्नाटक की सरकार ट्रेनें रद्द करवा देती है, क्योंकि वहां की बिल्डर लॉबी सरकार को समझाती है कि इस तरह ट्रेनें चलीं तो सारे 'गुलाम' भाग जाएंगे। अभी आप जो देख रहे हैं यह केवल गुलामों के संभावित विद्रोह को शांत करने के उड़ाए जा रहे छींटे मात्र हैं।

हमारे देश में हमेशा से गरीबों के लिए एक, और विशिष्ट लोगों के दूसरी नीतियों का चलन रहा है। इसके बावजूद आज जब अति आवश्यक लोगों की सूची बनी है तो हम देख रहे हैं कि देश में केवल दो वर्ग अति आवश्यक श्रेणी में आते हैं– एक है डॉक्टर और दूसरा है मजदूर! आपने ऐसी कोई चर्चा सुनी कि नर्सों की हालत भी अच्छी नहीं है. फिर आते हैं हमारे सफाई कर्मचारी, आशा कार्यकर्ता, आंगनवाड़ी कार्यकर्ता, बिजली विभाग के कर्मचारी, कारखानों के मजदूर- ये सब आवश्यक लोगों की श्रेणी में आते हैं. और तब हमें अचानक अहसास होता है कि हम जो मुट्ठी भर 'सबसे ऊंचे वर्ग' के लोग हैं वे सब इस देश के लिए कितने अनावश्यक हैं!

■ ***लोगों का पलायन तो दशकों से हो रहा है। उनकी परिस्थिति भी हमेशा से दयनीय रही है। सामान्यतः हम अपने प्रवासी मजदूरों से जैसा व्यवहार करते हैं, उसे आप किस तरह देखते हैं?***

कई प्रकार के लोग पलायन करते हैं। उनमें भी एक वर्गभेद है जिसे आपको समझना होगा। मैं चेन्नै में पैदा हुआ, उच्च शिक्षा के लिए मैं चार साल दिल्ली में रहा। फिर जीविका के लिए मैं मुंबई आया। अब पिछले 36 सालों से मुंबई में हूं। जब-जब मैंने स्थानांतरण किया, मुझे उससे फायदा ही हुआ क्योंकि मैं एक विशेष वर्ग या जाति से आता हूं। मेरे पास अपनी सामाजिक पूंजी है, कई लोगों से मेरी जान-पहचान है।

कई विस्थापन स्थायी होते हैं। आप जहां जाते हैं, वहीं बस भी जाते हैं। फिर कुछ लोग मौसम के आधार पर पलायन करते हैं। गन्ने के खेत में काम करने वाले मजदूर महाराष्ट्र से पांच महीने के लिए कर्नाटक आते हैं। कर्नाटक से मजदूर महाराष्ट्र आते हैं, काम करते हैं और फिर अपने घरों को लौट जाते हैं। ओडिशा के कालाहांडी से पर्यटन के मौसम में श्रमिक रायपुर रिक्शा चलाने आते हैं। कई उड़िया मजदूर कोरापुट से आंध्र के विजयानगरम उन कुछ महीनों के लिए आते हैं जब ईंट पकाने की भट्ठी लगने का मौसम

होता है। और भी कुछ दूसरी प्रकार के प्रवासी मजदूर होते हैं। सबसे चिंताजनक हालत में भटकने वाले मजदूर होते हैं। इनका कोई गंतव्य नहीं होता है। किसी ठेकेदार के साथ 90 दिनों के लिए मुंबई में किसी बिल्डिंग का काम किया और फिर खाली हो गये। फिर वही ठेकेदार उन्हें महाराष्ट्र के किसी दूसरे ठेकेदार के पास पहुंचाने के लिए बस में बिठा देता है। फिर वहां से किसी दूसरे के साथ कहीं और। यह सिलसिला चलता रहता है। अनिश्चितता से भरी यह मनहूस जिंदगी इसी तरह चलती रहती है। ऐसे श्रमिकों की संख्या लाखों में है।

वैसे, मजदूरों के पलायन का इतिहास सौ साल से भी अधिक पुराना है लेकिन पिछले 28 सालों में उनमें अचानक कई गुना बढ़ोतरी हुई है। 2011 की जनगणना के मुताबिक 2001 से 2011 के बीच, आजाद भारत का सबसे बड़ा श्रमिक पलायन शुरू हुआ। आप 2011 की जनगणना देखेंगे तो पाएंगे कि 1921 के बाद पहली बार आधिकारिक तौर पर यह दर्ज हुआ कि भारत के शहरों में जनसंख्या-वृद्धि, गांव की जनसंख्या-वृद्धि से ज्यादा है। यह कैसे और क्यों हुआ? क्या इस बात की कभी कोई चर्चा हुई हो, ऐसा आपने देखा? आप टीवी के तब के कार्यक्रमों में खोजिए कि जहां जनसंख्या की चर्चा हो रही है तो क्या उसमें कभी मजदूरों के ऐसे पलायन की चर्चा भी हुई? मेरा मानना है कि इसका कोई गंभीर मूल्यांकन कभी नहीं हुआ।

■ ***क्या ऐसा कहना ठीक होगा कि श्रमिकों के पलायन की गंभीर चर्चा के बिना भारत के ग्रामीण संकट की चर्चा अधूरी रह जाती है?***

हां, बिल्कुल सही कह रहे हैं आप! लेकिन यह ग्रामीण संकट है क्या? हमने खेती पर आधारित ग्रामीण-व्यवस्था को पूरी तरह नष्ट कर दिया है। परिणामतः करोड़ों लोगों की आजीविका नष्ट हो गई। फिर उसी का परिणाम यह हुआ कि इनके सहारे चलने वाली दूसरी व्यवस्थाएं भी नष्ट हो गई हैं। खेती के बाद अपने देश में हैंडलूम और हस्तकला के क्षेत्र में सबसे ज्यादा रोजगार हुआ करता था। नाविकों का, मछुआरों का, नीरा निकालने वालों का, खिलौने बनाने वालों का, बुनकर और रंगरेज का, एक-के-बाद-एक सारे उद्योग नष्ट होते गये। फिर पलायन के अलावा उनके पास चारा ही क्या बचा था?

हम सबको बड़ी चिंता है कि ये प्रवासी मजदूर फिर शहरों की ओर लौटेंगे या नहीं? कोई यह नहीं पूछ रहा है कि वे सब यहां आए ही क्यों? मैं मानता हूं कि इनमें से बड़ी संख्या में मजदूर फिर से शहरों को लौटेंगे - शायद कुछ ज्यादा समय लग जाए उन्हें। जब हमने गांवों में जीविका के सारे

साधन, सारे रास्ते बंद कर दिए हैं तब फिर इनके पास लौटने के अलावा चारा भी क्या है?

■ ***इसी कोरोना-काल में कई राज्यों ने अपने श्रम कानूनों को ढीला कर दिया है। इसके बारे में आप क्या सोचते हैं?***

सबसे पहली बात तो मैं यह कहूंगा कि राज्यों ने अध्यादेश द्वारा श्रम कानूनों में बदलाव किया है। यह संविधान और कानून-व्यवस्था की खुली अवहेलना है। मेरी दूसरी बात यह है कि इस अध्यादेश द्वारा बंधुआ मजदूरी प्रथा को कानूनी मान्यता दे दी गई है। तीसरी बात यह कि श्रमिकों के काम करने के घंटे वर्षों लंबे अंतरराष्ट्रीय संघर्ष और विमर्श का परिणाम थे। इसे पूरी दुनिया में मान्य किया गया कि आप श्रमिकों से प्रतिदिन आठ घंटे से ज्यादा काम नहीं ले सकते हैं। अब तो लगता है कि राज्यों ने इतिहास का चक्का ही घुमा दिया है और हम सौ साल पीछे चले गये हैं।

गुजरात के अध्यादेश को पढ़िए। इसमें कहा गया है कि कामगारों को ओवरटाइम नहीं दिया जाएगा। राजस्थान ने कामगारों को ओवरटाइम नहीं मिले, ऐसा तो नहीं कहा है लेकिन इसकी अधिकतम सीमा सप्ताह में 24 घंटे की बांध दी है। मतलब यह हुआ कि एक कामगार से मालिक सप्ताह के छः दिन लगातार 12 घंटे तक काम करवा सकता है। यह सब फैक्ट्री अधिनियम में छूट और अपवाद की धाराओं को फेर-बदल कर किया गया है। इन बदलावों के पीछे सरकारों की मान्यता यह है कि ज्यादा घंटे काम करने से व्यक्ति की उत्पादन क्षमता बढ़ती है। लेकिन इस विषय में पिछले दिनों जितने भी अध्ययन हुए हैं वे सभी इसके विरुद्ध जाते हैं। पिछले सौ वर्षों में पाया गया है 8 घंटे से ज्यादा काम लेने पर मजदूर की उत्पादन-क्षमता घटती है, क्योंकि वह थकता भी है, उसे नींद भी आने लगती है।

सच तो यह है कि यह मानवाधिकारों का सरासर हनन है। सारे राज्य दलाली का काम कर रहे हैं। वे उद्योगों के लिए बंधुआ मजदूर बनाने की एजेंसी बन गये हैं। इसका सबसे बुरा असर समाज के सबसे कमजोर वर्गों— दलितों, आदिवासियों और महिलाओं पर पड़ेगा।

एक सच यह भी है कि अपने देश के 93% मजदूरों के पास किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं हैं। वे सब असंगठित क्षेत्रों में काम करते हैं, तो आप शिकायत भी किससे और कहां करेंगे? अब आपकी नई व्यवस्था कह रही है कि बाकी के 7% के अधिकार भी समाप्त कर दो। राज्य मान कर चल रहे हैं कि श्रम कानून में बदलाव करने से उनके राज्य में निवेश बढ़ेगा। लेकिन वे भूल जाते हैं कि निवेशक केवल उन राज्यों में जाते हैं जहां का

इंफ्रास्ट्रक्चर अच्छा हो, उद्योगों के फलने-फूलने का अच्छा माहौल हो और सामाजिक शांति हो। यदि उत्तर प्रदेश में यह सब होता तो वहां के मजदूरों को कहीं और जाना ही क्यों पड़ता?

■ ***इन सबका परिणाम क्या होगा?***

उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश ने तीन सालों के लिए सभी श्रम कानून निलंबित कर दिए हैं। तीन या चार कानून ऐसे हैं जिनकी संवैधानिक और कानूनी पेचीदगियां सरकारों को रोक रही हैं। वे दरअसल ऐसी व्यवस्था बनाना चाहते हैं कि किसी भी कीमत पर मजदूरों को काम करना ही हो। लेकिन मजदूरों को शौचालय, हवा, उजाला और आराम का अधिकार भी नहीं देने की सोच कर आप उन लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार कर रहे हैं।

■ ***हमें क्या करना चाहिए?***

हमें अपने श्रमिकों की हालत में सुधार लाने का ठोस प्रयास करना चाहिए। कोरोना महामारी का सबसे बुरा असर उन पर इसलिए पड़ा है कि हमारे समाज में भयंकर असमानता है। कानूनों में ऐसे बदलाव करके हम कई ऐसी अंतरराष्ट्रीय संधियों का भी उल्लंघन कर रहे हैं जिनका हम भी हिस्सा हैं। बाबा साहेब आंबेडकर ने इसे साफ-साफ देखा था और तभी कहा था कि सिर्फ सरकारों की बात नहीं है, हमें यह भी देखना होगा कि हम अपने मजदूरों को उद्योगों की दया पर न छोड़ दें। बाबा साहेब ने बड़ी मेहनत से इसकी जो संवैधानिक सुरक्षा खड़ी की थी, राज्यों के ऐसे बदलाव ने उस पूरे ढांचे को नुकसान पहुंचाया है।

■ ***राज्य सरकारों में श्रम विभाग बने हुए हैं। उनकी क्या भूमिका होनी चाहिए?***

निश्चित ही श्रम विभाग की भूमिका मजदूरों के अधिकारों के संरक्षण की होनी चाहिए। लेकिन हमारे यहां तो यह हाल है कि केंद्रीय श्रममंत्री ही श्रमिकों से कह रहे हैं कि उद्योगपतियों की बात मान कर चलें। यदि आप सच में कोई बदलाव चाहते हैं तो आपको सामाजिक समीकरण बदलने होंगे। हमारा समाज संसार के सर्वाधिक असमानता में जीने वाले समाजों में एक है। यदि आप इस असमानता की जड़ काटने के रास्ते नहीं खोजते हैं तो आप कुछ नहीं कर पाएंगे। परिस्थिति और बिगड़ती ही चली जाएगी- और वह भी तेजी से।

■ ***घर लौटनेवाले मजदूरों में ज्यादातर नौजवान हैं जो गुस्से से भरे हैं। क्या हम एक ज्वालामुखी पर बैठे हैं?***

हम ज्वालामुखी पर बैठे नहीं हैं, ज्वालामुखी फट चुकी है। बस, इतना है कि हम जान-बूझ कर उस दिशा में देखना नहीं चाहते हैं। हम सभी,

चाहें सरकार में हों कि उद्योगपति हों या हमारी-आपकी तरह के समाज के सामान्य अंग हों, हम सभी इसी पाखंड का हिस्सा हैं। 26 मार्च तक तो हमें पता भी नहीं था कि प्रवासी मजदूर जैसा भी कोई प्राणी होता है। आज लाखों की संख्या में वह प्राणी सड़कों पर दिख रहा है। हमें बहुत बुरा लग रहा है लेकिन किस बात का बुरा लग रहा है? हमें बुरा यह लग रहा है कि हमारे सेवक हमारे हाथ से निकलते जा रहे हैं। 26 मार्च तक हमें उनकी कोई पड़ी नहीं थी, आज हम आंसू बहा रहे हैं। जिन्हें हमने इंसान भी कभी माना नहीं, उन्हें भी बराबरी का अधिकार है, ऐसा कभी सोचा भी नहीं उनकी अचानक इतनी फिक्र? लगता है न कि कुछ गड़बड़ है! एक पुरानी कहावत है कि जब गरीब पढ़-लिख लेता है तो अमीर अपनी पालकी ढोने वाला एक आदमी खो देता है। आज अचानक हमने भी अपना पालकी ढोने वाला खो दिया है।

■ ***इस तरह के पलायन का महिलाओं और बच्चों पर कैसा असर होता है?***

महिलाओं और बच्चों पर इसका सबसे भयानक असर होता है। पौष्टिक आहार तो छोड़िए, भर पेट खाना मिलना भी जैसे ही बंद होता है छोटी बच्चियों और महिलाओं की दुर्गत होने लगती है। सेहत के मामले में वे हमारी सबसे कमजोर कड़ी होती हैं। इस पलायन में जैसी मुसीबत युवा लड़कियों को झेलनी पड़ती है उसके बारे में बात करना तो दूर, सोचना भी मुश्किल है। लाखों लड़कियों को स्कूल में मुफ्त सेनेटरी नेपकीन मिलते हैं - उनके सारे स्कूल तो अचानक ही आपने बंद कर दिए हैं तो उनके पास अपनी निजी स्वच्छता का कोई पर्याय नहीं रह गया है। वे सभी अस्वच्छ विकल्पों को इस्तेमाल करने को मजबूर हैं।

■ ***जो मजदूर पैदल अपने घर लौट रहे हैं उनका क्या?***

आप प्रवासी मजदूरों का सफर तो देखिए। वे लंबी-लंबी दूरियां पैदल ही तय करते आए हैं। दक्षिण राजस्थान से एक मजदूर निकलता है गुजरात की किसी फैक्ट्री के लिए पैदल, तब वह कितने किलोमीटर की यात्रा करता है, आप हिसाब लगाइए। वे दिन में करीब 40 किलोमीटर चलते हैं, फिर किसी ढाबे पर या चाय की टपरी पर रुकते हैं। यहां भी वे श्रमिक का अपना काम करते हैं और बदले में उस दिन का अपना भोजन पाते हैं। फिर अगली सुबह निकल पड़ते हैं। आगे कोई बड़ा बसअड्डा हो या कोई चहल-पहल भरा बाजार हो, तो वहां भी काम के बदले भोजन मिल जाता है। इस तरह करते-करते वे गुजरात पहुंच जाते हैं। उनकी वापसी भी इसी तरह होती है। इसलिए ही तो लाखों-लाख श्रमिकों का आना-जाना न समाज को पता चलता

है, न सरकार को। इस बार भी वे अपने इन्हीं रास्तों को याद कर निकले लेकिन इस बार वे सारी जगहें बंद थीं जहां वे श्रम के बदले चाय-पानी, नाश्ता-भोजन कमाते थे। वे मजबूर हो गए– भूख-प्यास के हाथों पिट गए। लेकिन सफर तो पूरा करना ही था क्योंकि घर पहुंचना था। फिर इस लंबे सफर में कौन था इनके साथ– भूख थी, बच्चे और औरतें थीं और साथ ही थीं थकान, उखड़ती सांसें और दस्त व अन्य बीमारियां।

■ ***इस परिस्थिति को कैसे बदलेंगे हम?***

हमें विकास का अपना यह मॉडल पूरी तरह छोड़ देना होगा - एकदम ही पलट जाना होगा। हमारे समाज को असमानता के राक्षस ने दबोच रखा है। प्रवासी मजदूर उसी असमानता के राक्षस की पैदावार हैं। यह मॉडल बदलना आसान नहीं है। "सभी के लिए न्याय– सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक" - यह हमारे संविधान में लिखा है। क्या हम इस पर विश्वास करते हैं? अगर विश्वास करते हैं तो संविधान की इसी अवधारणा को हम आगे बढ़ाएं तो हमें सहज ही आर्थिक और सामाजिक समानता की बात, राजनीतिक समानता से भी पहले दिखाई देगी। संविधान में भी यह प्राथमिकता साफ नजर आती है। हम कहते तो हैं कि हमारा संविधान ही हमारा मार्गदर्शक है लेकिन व्यवहार में हम अपने ही रास्ते चलते हैं। भारत का अमीर वर्ग और भारत की अमीर सरकार यदि यह मान रही हो कि जल्दी ही सब कुछ पहले जैसा हो जाएगा और उनका 'धंधा' फिर से चल निकलेगा तो यह एक ऐसा भ्रम है जिसकी कीमत हमें भयानक सामाजिक दमन, शोषण और हिंसा से चुकानी पड़ेगी।

(०अंग्रेजी से अनुवादः प्रेरणा)

*

हमारा मध्यम वर्ग

० रवीश कुमार

आईना

किसी भी देश का मध्यम वर्ग बहुत बड़ा होता है, और इसलिए बहुत महत्वपूर्ण होता है। लेकिन यह अत्यंत आत्मकेंद्रित, स्वार्थी और कायर भी होता है। इसलिए यह किसी समाज का मेरुदंड नहीं बन पाता है। और तब तो स्थिति बेहद भयावह बन जाती है जब उसे मेरुदंडविहीन कर भीड़ में बदल दिया जाता है

कोविड-19 ने भारत के मध्यम वर्ग का नया चेहरा पेश किया है। इस चेहरे को बनाने में छह साल लगे। हैरानी है कि नौकरी और सैलरी गंवाने पर भी मध्यम वर्ग बोल क्यों नहीं रहा है? मजदूरों की दुर्दशा पर वह चुप कैसे है? जब वह अपनी दुर्दशा पर चुप है तो मजदूरों की दशा पर कैसे बोले? न मध्यम वर्ग स्थायी है, न उसकी परिभाषा!

मध्यम वर्ग की दबी हुई हसरत थी कि कोई ऐसा मास्टर आए जो हंटर हांके। उसे समस्याओं का समाधान या तो सेना के अनुशासन में नजर आता था या फिर हिटलर के अवतार में। इसकी लोकतांत्रिक आकांक्षाएं नहीं थीं। इसलिए लोकतांत्रिक संस्थाओं के पतन का यह मुखर विरोधी भी नहीं रहा।

मुमकिन है, सैलरी कटने या नौकरी चले जाने से यह उदास हो लेकिन वह बाहर से उस हवा के साथ बहता दिखना चाहता है, जिसे उसने ही बनाया है। उसने इस हवा के खिलाफ उठने वाले हर सवाल को कुचलने में उनका साथ दिया है। गोदी मीडिया को इसी ने प्रश्रय दिया है। गोदी मीडिया के लिए इसने सभी असहमतियों पर हमला किया। अब अगर इसके भीतर किसी प्रकार की बेचैनी या नाराजगी है भी तो वह कौन-सा चेहरा लेकर उस मीडिया के पास जाएगा जिसे गोदी मीडिया बनाने में उसकी भी भूमिका रही है? इसलिए वह अपनी चुप्पियों में कैद है।

यह असाधारण बात है। अगर करोड़ों लोग बेरोजगार हुए हैं तो उसमें मध्यम वर्ग की तमाम श्रेणियों के भी लोग होंगे। लेकिन इक्का-दुक्का प्रसंगों को छोड़ इसने अपनी बेचैनी जाहिर नहीं की है। अपने लिए बेरोजगारी भत्ता नहीं मांगा। इसने छह साल से उठने वाली हर आवाज को कुचलने का काम किया है तो इसे पता है कि आवाज का अब कोई मतलब नहीं है। वह आज तक जिस गोदी मीडिया का रक्षक बना रहा है, उससे भी नहीं कह सकता है कि आप हमारी आवाज उठाएं।

सरकार ने एक ऐसे मध्यम वर्ग की रचना की है जो अपने वर्ग-हित का बंधक नहीं है। उसका हित सिर्फ एक व्यक्ति है। यह उसकी तारीफ करना चाहता है, उसकी तारीफ में छपी खबरें पढ़ना चाहता है। इस मध्यम वर्ग ने आइटी सेल खड़ा किया, उसकी भाषा को सामाजिक आधार दिया, सरकारी पत्रकारों को हीरो बनाया।

इसे पता है कि छह साल में उसकी कमाई घटी है, उसका बिजनेस गच्चा खाया है, उसके मकानों की कीमत गिर गई है। वह यह सब जानता है। लेकिन उसकी प्राथमिकता दूसरी है। इसने बेरोजगारी जैसे ज्वलंत मुद्दे को भारत की राजनीति से गायब कर दिया है। यह मुद्दों का वर्ग नहीं है। विगत छह वर्षों में उसने अनेक मुद्दों को कुचल दिया।

कोई भी वर्ग एक परिभाषा में नहीं समा सकता है। हर वर्ग के भीतर कई वर्ग होते हैं। मध्यम वर्ग के भीतर भी एक छोटा-सा वर्ग है। वह राजनीति या सरकारों पर पड़ने वाले दबावों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। वह अपनी नैतिकताओं के प्रति जवाबदेह है। इसलिए वह अपनी कमाई लुटा कर जनसेवा कर रहा है। लेकिन उसकी यह जनसेवा भी उसके वर्ग को झकझोर नहीं पा रही है।

इस मध्यवर्ग की पहचान वर्ग से नहीं, धर्म से है। मुमकिन है, धर्म की आधी-अधूरी समझ हो। लेकिन उसके नव-निर्माण में धर्म की बहुत भूमिका रही है। यह आर्थिकी से संचालित या उत्प्रेरित नहीं होता है। इसलिए उसकी आर्थिक परेशानियों में राजनीतिक संभावना तलाशने की व्यर्थ कोशिश न करें। स्वीकार करें कि किसी एक ने अपने लिए एक वर्ग का निर्माण किया है।

यह वह वर्ग है जिसके खाते में 15 लाख न जाने का सबने कितना मजाक उड़ाया लेकिन इसने मजाक उड़ाने वालों को धुएं में उड़ा दिया। उम्मीद थी कि 15 लाख की याद दिलाने से मध्यम वर्ग को ठेस पहुंचेगी। इसने याद दिलाने वालों को ही ठेस पहुंचा दी। जिसने 15 लाख की बात भुला दी, आपको क्यों लगता है कि वह आर्थिक पैकेज में पांच या पचास

हजार की याद करेगा? नोटबंदी के समय भी बरबादी इसी वर्ग की हुई थी लेकिन उसने अपनी राष्ट्रीय पहचान के सामने उस बरबादी को भी बर्बाद कर दिया। इसका स्वाभिमान बदल गया है।

मध्यम वर्ग को अपने अनुभवों से पता है कि 'मेक इन इंडिया' फेल कर गया है। 'स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट' हंसी का विषय बन गया है, वह 'आत्मनिर्भर भारत' की जुमलेबाजी को जानता है। वह हर झूठ को पहचानता है। उसने हर झूठ को सच की घोषणा बनाने का काम किया है। उसने गोदी मीडिया को अपना मीडिया यूं ही नहीं बनाया है। उसके भीतर की राजनीति खत्म हो चुकी है। इसलिए वह राजनीतिक दबाव नहीं बनाएगा, अपनी बात धीरे से कहेगा और सावधान रहेगा कि इससे उसके भीतर कोई नई राजनीतिक प्रक्रिया शुरू न हो जाए। वह थाली बजाना छोड़ कर मशाल उठाने वाला नहीं है।

कोविड-19 के संकटकाल में इसने अपनी किसी मांग को लेकर मुखरता नहीं दिखाई। चलते-फिरते कहा जरूर कि सैलरी क्यों कटी, नौकरी क्यों गई, ईएमआइ क्यों नहीं कम हुई लेकिन कह कर तुरंत भूल गया कि उसने क्या कहा। उसकी सरकार उसे याद रखेगी, नहीं भी देगी तो भी सरकार निश्चिंत रहे, उसकी बनाई इमारत इतनी जल्दी नहीं गिरने वाली है। यह मध्यम वर्ग उसका साथी है।

यह मध्यम वर्ग अब लंबे लेख भी नहीं पढ़ना चाहता है भले आप उसके भले की बात लिखें। उसे सब कुछ 'व्हाट्स एप मीम' की शक्ल में चाहिए। ईएमआइ पर जीने वाला यह वर्ग ज्ञान भी किश्तों पर चाहता है। मीम उसके ज्ञान का ईएमआइ है। उसका सपना बदल गया है। वह 'टिक टॉक' पर अपने आपको निरर्थक साबित करने में जुटा है। होशियार नेता अगर आर्थिक पैकेज की जगह अच्छा सीरियल दे दे, तो मध्यम वर्ग की शामें बदल जाएंगी। वह उस सीरियल में पहने गए कपड़ों और बोले गए संवाद को जीने लगेगा। राष्ट्रीय संकट के इस दौर में आप मध्यम वर्ग के राष्ट्रीय चरित्र का दर्शन ही न कर पाए तो किस बात के समाजशास्त्री हुए आप!

(लेखक एनडीटीवी के मशहूर एंकर हैं)

*

बेबाक

अपने अमरीका को मेरी तीन सलाह

० बराक ओबामा

अमरीका इस कदर कभी लुटा-पिटा नहीं था जैसा वह आज दिखाई दे रहा है। कोरोना की आंधी में उसका छप्पर ही सबसे पहले और सबसे अधिक उड़ा। वह अपने 1 लाख से अधिक नागरिकों को खो चुका है और लाखों संक्रमित नागरिक कतार में लगे हैं।... और तभी वह आग में धू-धू कर जल भी उठा है। 25 मई 2020 को एक श्वेत पुलिस अधिकारी ने 46 साल के अश्वेत जॉर्ज फ्लायड की बेरहम, अकारण हत्या खुलेआम सड़क पर गला दबा कर, कर दी। वह गुहार लगाता रहा कि 'मुझे छोड़ो, मेरा दम घुट रहा है' लेकिन उस पुलिस अधिकारी ने उसे खुली सड़क पर गिरा कर, अपने घुटनों से उसका गला 9 मिनटों तक दबाए रखा- तब तक, जब तक वह दम तोड़ नहीं गया।

न यह पहला मामला था, न आखिरी! लेकिन इस बार अमरीका इस हत्या को चुपचाप सह नहीं सका। वह चीखा भी, चिल्लाया भी और फिर आगजनी और लूट-पाट के रास्ते पर चल पड़ा।

1960 के सालों में गांधी की अहिंसा की शक्ति लेकर जब मार्टीन लूथर किंग अमरीका की सड़कों पर लाखों-लाख अश्वेतों को लेकर उतरे थे तब भी ऐसा ही जलजला हुआ था। लेकिन गांधी थे, सो न आग लगी थी, न लूटपाट हुई थी। उसके बाद यह पहला मौका है जब अश्वेत अमरीका इस तरह उबला है। यह हिंसा तो जरूर है लेकिन गहरी पीड़ा में से पैदा हुई है।

यह भी हमारी नजरों से ओझल नहीं होना चाहिए कि इस बार बड़ी संख्या में श्वेत अमरीकी, एशियाई मूल के लोग भी इसमें शरीक हैं, इसके साथ अपनी सहानुभूति जोड़ रहे हैं। इसका कोई सूत्र मानव-मन की गहराइयों में उतरने की मार्टीन लूथर किंग की कोशिश में ढूंढा जाना चाहिए। हम हिंसा की इस ज्वाला के आगे घुटने टेक कर माफी मांगते अमरीकी पुलिस अधिकारियों को भी देख रहे हैं और यह भी देख रहे हैं कि जब व्हाइट हाउस के सामने अश्वेत क्रोध फूटा तो बड़बोले राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप राष्ट्रपति भवन के भीतर बने तहखाने में जा छिपे।

गांधी होते तो क्या कहते?... पीड़ा सच्ची है, रास्ता गलत है। यही कहा अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा ने भी। जब उन्होंने यह कहा था तब संदर्भ कोरोना का था। लेकिन ओबामा की नजर अमरीकी समाज के सभी कोरोनाग्रस्त पहलुओं पर थी

आज हमारे चारों बगल जो हो रहा है और हम सब जिस तरह उसका सामना कर रहे हैं उसका एक ही मतलब है कि पिछली कई पीढ़ियों की तुलना में हम अमरीकी तेजी से बड़े व प्रौढ़ होते जा रहे हैं। इस महामारी ने यथास्थिति को हिला कर रख दिया है। इसने हमारे देश की बहुत-सी पुरानी, गहरी, जड़ जमाए बैठी समस्याओं को उजागर कर दिया है— हमारी व्यापक आर्थिक असमानता से लेकर हमारी नस्लीय असमानताएं तक; हमारी बुनियादी स्वास्थ्य सेवा के खोखले ढांचे से लेकर बुजुर्गों की सामाजिक देखभाल की कमी तक, अमरीकी समाज का हर कमजोर पक्ष आज खुल कर हमें दिखाई दे रहा है।

हमारे बहुत सारे युवाओं को कोरोना के कारण ही पहली बार यह पता चल रहा है कि काम करने के हमारे पुराने तरीके किस कदर विफल होते जा रहे हैं। यदि आपके आसपास का हर व्यक्ति भूखा और बीमार है तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि आप कितना पैसा कमाते हैं; और यह भी शायद पहली बार ही पहचाना जा रहा है कि हमारा समाज और हमारा लोकतंत्र

तभी काम करता है जब हम सिर्फ अपने बारे में नहीं बल्कि हम सभी एक-दूसरे के बारे में सोचते हैं।

इसने एक और कड़वी सच्चाई पर से भी पर्दा हटा दिया है। यह वह सच है जिसका अहसास हम सबको अंततः होता ही है - तब, जब हमारा बचपन समाप्त होने को आता है। वे सारे बड़े-बुजुर्ग जिनके बारे में हम मानते थे कि वक्त की लगाम इनके हाथ में है, और जिनके बारे में हम मानते थे कि कहां, क्या हो रहा है यह सब वे जानते हैं, अब हम देख पा रहे हैं कि उन्हें पता ही नहीं था कि वे क्या कर रहे हैं! अब पता चला है कि उनके पास भी सभी सवालों के जवाब नहीं हैं। उनमें से बहुत सारे तो सही सवाल पूछ भी नहीं पा रहे हैं। इसलिए, अगर दुनिया बेहतर होने जा रही है, तो इसका दारोमदार किसी दूसरे पर नहीं, आपके ऊपर है– अमरीका के युवाओं के ऊपर है।

हो सकता है कि यह बोध तुम्हें डराने-घबराने जैसा लगे। लेकिन मुझे उम्मीद है कि यह बोध तुम्हें प्रेरणा भी देगा। आज और अभी यह देश जिन चुनौतियों के सामने खड़ा है और जिनका मुकाबला कर रहा है, उसमें कोई बचा नहीं है कि जो आपसे कहे कि "नहीं, आप यह सब समझने के लिए बहुत बच्चे हैं!" कोई ऐसा भी बचा नहीं है कि जो आपसे कह सके कि "देखो, हमेशा हमने ऐसा ही किया है!" क्योंकि एक साथ इतनी सारी अनिश्चितता और सारा कुछ लपक लेने के लिए एक साथ बढ़े हुए इतने सारे हाथ बता रहे हैं कि अब यह तुम्हारी दुनिया है कि जिसे तुम्हें आकार देना है।

यह जो ताकत तुम्हारे हाथ में आ गई है तुम इसका क्या करो, यह बताने वाला मैं कौन! मैं भी तो अब बूढ़े-बुजुर्गों की श्रेणी में आ पहुंचा हूं। इसलिए मैं तुम्हें फटाफट तीन सलाहें दे कर जाता हूं।

सबसे पहला यह कि डरो मत! इससे पहले भी अमरीका कितने ही कठिन दौरों से गुजर चुका है- गुलामी देखी है हमने, गृहयुद्ध, अकाल, बीमारी, वह महामंदी और फिर 9/11! और हर बार हम ज्यादा मजबूत होकर बाहर निकले हैं, क्योंकि एक नई पीढ़ी ने, आप जैसे ही युवाओं की नई पीढ़ी ने अपनी पिछली गलतियों से सीखा और यह भी पता लगाया कि चीजों को बेहतर कैसे बनाया जाए।

दूसरा यह कि जो तुम्हें लगता है कि यह सही है, वह करो! क्या करना अच्छा लगता है, क्या करना सुविधाजनक है, क्या चीज आसान है - इस तरह तो छोटे बच्चे सोचते हैं। दुर्भाग्य यह है कि बहुत सारे बड़े भी, जिनमें से कुछ ऊंची-बड़ी कुर्सियों पर बैठे हैं, और कुछ बड़ी, महत्वपूर्ण

नौकरियां करते हैं, वे सब अभी भी इसी तरह सोचते हैं - बल्कि यही वजह है कि आज चीजें इस कदर बिगड़ गई हैं।

मैं आशा करता हूं कि इन सबमें उलझने की बजाय तुम उन स्थायी मूल्यों से अपना नाता जोड़ोगे और उनके आधार पर फैसले करोगे कि जिसे ईमानदारी कहते हैं, कड़ी मेहनत, जिम्मेदारी, निष्पक्षता, उदारता और दूसरों के लिए सम्मान कहते हैं। तुम हमेशा सही नहीं कर सकोगे। तुम भी हम सबकी तरह गलतियां करोगे। लेकिन अगर तुम उस सत्य को सुनोगे कि जो हम सबके अंदर है और लगातार बोलता भी है, तब भले कि बड़ी कठिनाई हो; भले कि बहुत सारा कुछ असुविधाजनक हो, लोग तुम्हें जरूर सुनेंगे, लोग तुम पर ध्यान देंगे। वे तुम्हारी तरफ आकर्षित होंगे। और तब तुम समस्या खड़ी करने वालों में नहीं, समस्या हल करने वालों में होगे- समाधान का हिस्सा होगे।

और अंतिम बात यह कि तुम्हें बनाना है एक समाज! कोई अकेलेदम पर कोई बड़ा काम नहीं करता है। अभी, जब लोग डरे हुए हैं, तब निंदक बनना आसान है और यह कहना भी आसान है कि मुझे केवल अपने लिए और अपने परिवार के लिए सोचना है याकि मुझे केवल उनकी ही फिक्र करनी है जो मेरी तरह दुनिया को देखते, सोचते या प्रार्थना करते हैं। लेकिन अगर हमें इस कठिन दौर को पार करना है; अगर हमें एक ऐसी दुनिया बनानी है कि जहां हर किसी को रोजगार खोजने का समान मौका मिले, और सभी को कॉलेज जाने का अवसर मिले; अगर हम अपना पर्यावरण बचाने जा रहे हैं और हमें भविष्य की महामारियों को हराना है, तो हमें एकजुट ही रहना होगा, एक साथ ही काम करना होगा। इसलिए एक-दूसरे के संघर्षों-कठिनाइयों के प्रति हम संवेदनशील बने रहें। एक-दूसरे के अधिकारों के लिए खड़े हों। सोच के उन सभी पुराने तरीकों को छोड़ दें जो हमें विभाजित करते आए हैं - लिंगभेद, नस्लीय पूर्वाग्रह, अपनी विशिष्टता का अहंकार, अंतहीन लालच - सबको किनारे करो, और दुनिया को आगे, एक अलग, नये रास्ते पर ले जाओ।

० लेखक अमरीका के पहले अश्वेत राष्ट्रपति
तथा महात्मा गांधी को अपना प्रेरणास्रोत मानने वाले राजनेता हैं।
अंग्रेजी से अनुवाद पल्लव ने किया है।

*

हे भगवान!

○ अरुंधति रॉय

जो दीखता है वही इतना भयावह होता है कि वह जो कहता है, हम उसे सुन नहीं पाते हैं

इधर के दिनों में 'वायरल होना' सबसे सहज अभिव्यक्ति बन गई थी। अब इस शब्द को सुनते ही किसे सिहरन नहीं होगी? दरवाजे के हैंडल, गत्ते का डिब्बा या सब्जी का थैला देखते ही किसकी कल्पना में उन अदृश्य छींटों– के झुंड साकार नहीं हो उठेंगे जो न जीवित ही हैं, न मृत ही हैं और जो अपने चिपकने वाले चूषक पंजों के साथ हमारे फेफड़ों में कब्जा जमाने का इंतजार कर रहे हैं। एक अजनबी को चूमने, बस में घुसने या अपने बच्चे को स्कूल भेजने के पहले कौन भयभीत नहीं हो उठेगा?

दुनिया भर में संक्रमित लोगों की संख्या की पक्की जानकारी किसी के पास है? आशंकाएं बहुत सारी हैं। यह विषाणु खुद तो व्यापार और अंतरराष्ट्रीय पूंजी से मुक्त भ्रमण करता जा रहा है लेकिन इसने करोड़ों इंसानों को उनके देशों, शहरों और घरों में बंद कर दिया है। परंतु पूंजी के प्रवाह के विपरीत इस विषाणु को प्रसार तो चाहिए, मुनाफा नहीं चाहिए।

इसने आव्रजन नियंत्रणों, बायोमेट्रिक्स (लोगों की शिनाख्त करने वाली प्रणालियों), डिजिटल निगरानी और डेटा विश्लेषण करने वाली अन्य प्रणालियों का मजाक उड़ाया है। दुनिया के सबसे अमीर, सबसे शक्तिशाली देशों को इतने जबरदस्त चोट पहुंचाई है। पूंजीवाद का इंजन वहां हिचकोले खाते हुए रुक गया है।

इस महामारी के प्रबंधन में लगे दिग्गज 'युद्ध-युद्ध' चिल्ला रहे हैं। अगर वास्तव में यह युद्ध ही होता तो इसके लिए अमरीका से ज्यादा बेहतर तैयारी किसकी होती? आप सोचिए, अगर अगले मोर्चे पर लड़ रहे अमरीकी सिपाहियों के लिए मास्कों और दस्तानों की जगह बंदूकों, स्मार्ट बमों,

बंकर-ध्वंसकों, पनडुब्बियों, लड़ाकू विमानों और परमाणु बमों की जरूरत होती तो क्या उनका अभाव होता?

हम उन अमरीकी अस्पतालों की कहानियां सुन रहे हैं जो रोगियों से पटे हुए हैं। कम वेतन और बहुत ज्यादा काम से त्रस्त नर्सें कूड़ेदानों में इस्तेमाल होने वाले कपड़ों और पुराने रेनकोटों से मास्क बनाने को मजबूर हैं ताकि हर तरह के जोखिम उठा कर भी रोगियों को कुछ राहत दे सकें। अमरीकी राज्य वेंटिलेटरों की खरीद के लिए एक-दूसरे के खिलाफ बोली लगा रहे हैं। डॉक्टर इस दुविधा में हैं कि किस रोगी की जान बचाएं और किसे मरने के लिए छोड़ दें? एक तात्कालिक, वास्तविक और विराट त्रासदी हमारी आंखों के सामने घटित हो रही है। 'रोगियों को बाहर फेंक देने' वाली वे वीडियो क्लिपें किसे याद नहीं हैं जिनमें अस्पताल के गाउन में ही रोगियों को, जिनके नितंब तक उघाड़ थे, अस्पतालों ने चुपके से, कूड़े की तरह सड़कों पर फेंक दिया था? कम सौभाग्यशाली अमरीकी नागरिकों के लिए अस्पतालों के दरवाजे ज्यादातर बंद ही रहे हैं। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे कितने बीमार हैं या उन्होंने कितना दुःख झेला है।

भारत में कोविड-19 का पहला मामला 30 जनवरी को आया था। भारतीय गणतंत्र दिवस की परेड के सम्माननीय मुख्य अतिथि के दिल्ली छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद। लेकिन तब सत्तारूढ़ पार्टी की समय-सारिणी में ऐसा बहुत कुछ था जो इस विषाणु से निबटने से ज्यादा जरूरी था। फरवरी के अंतिम सप्ताह में राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप की सरकारी यात्रा तय थी। उन्हें गुजरात के एक स्टेडियम में एक लाख लोगों को जुटाने का प्रलोभन दिया गया था। इस सबमें काफी धन और समय जाया हुआ।

फिर आ गया दिल्ली विधानसभा का चुनाव। भारतीय जनता पार्टी इसमें अगर अपना खास खेल नहीं खेलती तो उसका हारना निश्चित था। अतः उसने खेला। उसने एक कुटिल हिंदू राष्ट्रवादी अभियान छेड़ दिया, जो शारीरिक हिंसा और 'गद्दारों' को गोली मारने की धमकियों से भरा था। दिल्ली उच्च न्यायालय के एक जज ने इस राजनीतिक विषवमन को रोकना चाहा तो उसे ही 'गोली मार' दी गई।

खैर, पार्टी चुनाव हार गई। ऐसा अपमान! दिल्ली के मुसलमानों के लिए सजा तय की गई। उत्तर-पूर्वी दिल्ली में हिंदू उपद्रवियों के हथियारबंद गिरोहों ने, पुलिस के संरक्षण में अपने पास-पड़ोस के मुस्लिम-बहुल मजदूर-वर्ग के घरों पर हमला बोल दिया। मकानें, दुकानें, मस्जिदें और स्कूल जला दिए गए। जिन मुसलमानों को इस हमले की आशंका थी, उन्होंने मुकाबला

किया। 50 से ज्यादा लोग, कुछ मुसलमान और कुछ हिंदू, मारे गए।

जिस समय सरकारी अधिकारियों ने कोविड-19 पर अपनी पहली बैठक की और अधिकांश भारतीयों ने पहली बार 'हैंड सैनिटाइजर' जैसी किसी चीज के बारे में सुना तब भी राजधानी के गंदे, बदबूदार नालों से विकृत लाशें निकाली जा रही थीं।

मार्च का महीना इससे भी ज्यादा व्यस्तता भरा था। शुरुआती दो हफ्ते तो मध्यप्रदेश में कांग्रेस की सरकार गिराने और उसकी जगह भाजपा की सरकार बनाने में गए। 11 मार्च को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने घोषित किया कि कोविड-19 एक वैश्विक महामारी है। इसके दो दिन बाद ही, 13 मार्च को स्वास्थ्य मंत्रालय ने कहा कि कोरोना 'कोई आपातकालीन स्वास्थ्य खतरा नहीं है।'

19 मार्च को प्रधानमंत्री ने राष्ट्र को संबोधित किया। उन्होंने ज्यादा होमवर्क नहीं किया था; बस, फ्रांस और इटली से कार्य-योजना उधार ले ली थी। 22 मार्च को एक दिन का 'जनता कर्फ्यू', बाकी कुछ नहीं! हां, अपनी बालकनियों में आकर ताली, थाली और घंटी वगैरह बजाने का आह्वान तो था ही।

कई मुस्लिम संगठन भी इसमें पीछे नहीं रहे। उन्होंने घोषणा कीः इस विषाणु का जवाब है सर्वशक्तिमान अल्लाह! उन्होंने आस्थावानों को बड़ी संख्या में मस्जिदों में इकट्ठा होने का आह्वान किया। 24 मार्च को रात 8 बजे मोदी टीवी पर फिर से यह घोषणा करने आए कि आधी रात से पूरा भारत 'लॉकडाउन' में होगा; और सारा देश 4 घंटे बाद बंद हो गया।

उन्होंने कहाः एक प्रधानमंत्री के रूप में नहीं, परिवार के बुजुर्ग के रूप में वे यह फैसला ले रहे हैं। जिन्हें इस फैसले के नतीजों से निबटना था उन राज्यों से पूछ भी नहीं। ठीक ही तो कियाः 'बच्चों' से 'बुजुर्ग' पूछते हैं क्या? पेशेवरों और महामारी विज्ञानियों ने इसकी सराहना की। वे सिद्धांततः सही भी हों शायद! लेकिन वैसी अनर्थकारी योजनाहीनता और तैयारी का वैसा दरिद्र अभाव! 'लॉकडाउन' के मकसद को ही इसने परास्त कर दिया। और फिर दुनिया ने स्तब्ध होकर देखा हमारे शहरों और महानगरों ने अपने कामकाजी वर्ग के नागरिकों, अपने प्रवासी श्रमिकों को बिल्कुल अवांछित उत्पाद की तरह निकाल बाहर कर दिया।

ढेरों लोग, लाखों गरीब, भूखे-प्यासे लोग, युवा और बूढ़े, पुरुष, महिलाएं, बच्चे, बीमार, अंधे, विकलांग, जिनके पास जाने का कोई ठिकाना नहीं था, कोई सार्वजनिक परिवहन उपलब्ध नहीं था, उन्होंने अपने 'घरों' के लिए पैदल चलना शुरू कर दिया। वे अपनी भुखमरी से होड़ करने निकले थे। वे जानते थे कि शायद वे अपने साथ वह विषाणु भी ले जा रहे हों, जो घर

पर परिवार को, माता-पिता और दादा-दादी को संक्रमित भी कर दे। पर उन्हें रत्ती भर ही सही, परिचित माहौल, आश्रय और गरिमा के साथ ही प्यार न सही, भोजन की सख्त जरूरत थी।

जब दिल्ली से पलायन शुरू हुआ तो एक पत्रिका, जिसके लिए मैं अक्सर लिखती हूं, उसके प्रेस-पास का इस्तेमाल करके मैं गाजीपुर गई। दिल्ली-उत्तरप्रदेश की सीमा।

विराट जन सैलाब था। शारीरिक दूरी बनाने के मकसद से लागू किया गया 'लॉकडाउन' यहां पलट चुका था। अकल्पनीय शारीरिक नजदीकी थी। भारत के शहरों और कस्बों का यही सच है। मुख्य सड़कें हो सकता है खाली हों लेकिन गरीब लोग मलिन बस्तियों और झोपड़पट्टियों की तंग कोठरियों में ठस्स-के-ठस्स पड़े थे।

सभी विषाणु से चिंतित थे। फिर भी उनके जीवन पर मंडरा रही बेरोजगारी, भुखमरी और पुलिस की हिंसा की तुलना में यह छोटी वास्तविकता थी। उनमें से एक व्यक्ति के शब्दों ने मुझे विशेष रूप से परेशान कर दिया। वह रामजीत नाम का एक बढ़ई था। नेपाल की सीमा के पास गोरखपुर तक पैदल जाने की योजना उसने बनाई थी। उसने कहा, "शायद जब मोदीजी ने ऐसा करने का फैसला किया, किसी ने उन्हें हमारे बारे में नहीं बताया होगा। शायद वह हमारे बारे में न जानते हों।" यहां 'हम' का अर्थ है लगभग 46 करोड़ लोग।

इस संकट में पता चला कि प्रधानमंत्री के राष्ट्रीय राहत कोष में कोई नकदी उपलब्ध नहीं है। शुभचिंतकों का पैसा कुछ हद तक रहस्यमय नये 'पीएम-केयर फंड' में डाला जा रहा है। प्रधानमंत्री के चेहरे वाले भोजन के पैकेट दिखने शुरू हो गए। 'लॉकडाउन' के दूसरे सप्ताह में पहुंचने तक सप्लाई चेनें टूट चुकी थी। दवाओं और आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति कमजोर पड़ चुकी थी। हजारों ट्रक ड्राइवर राजमार्गों पर अब भी असहाय फंसे हुए थे। कटाई के लिए तैयार खड़ी फसलें धीरे-धीरे खराब होने लगी थीं।

आर्थिक संकट है ही। राजनीतिक संकट भी जारी है। मुख्यधारा के मीडिया ने अपने 24/7 चलने वाले जहरीले मुस्लिम विरोधी अभियान में कोविड की कहानी को भी शामिल कर लिया है। भारत के सार्वजनिक अस्पतालों और क्लिनिकों में हर साल 10 लाख बच्चों को डायरिया, कुपोषण और अन्य स्वास्थ्य समस्याओं से बचाने की क्षमता नहीं है। वे मर जाते हैं। यहां टीबी के लाखों मरीज (विश्व का एक चौथाई) हैं। यहां भारी संख्या में लोग रक्ताल्पता और कुपोषण से ग्रस्त हैं। कोई भी मामूली बीमारी उनके

लिए प्राणघातक साबित हो जाती है। कोरोना जैसे संकट से अमरीका और यूरोप जूझ रहे हैं, उस पैमाने के संकट को संभालने की कूवत हमारी सार्वजनिक व निजी स्वास्थ्य सेवा में नहीं है।

कोरोना के आतंक के कारण दूसरे सारे रोग व रोगी पीछे कर दिए गए हैं। दिल्ली में 'एम्स' का प्रसिद्ध ट्रॉमा सेंटर बंद है। सैकड़ों कैंसर रोगी, जिन्हें 'कैंसर शरणार्थी' कहा जाता है, और जो ऐसे अस्पतालों के बाहर की सड़कों पर ही रहते हैं, उन्हें मवेशियों की तरह खदेड़ दिया गया है। लोग बीमार पड़ जाएंगे। घर पर ही मर जाएंगे। हम उनकी कहानियां कभी जान नहीं पाएंगे। हो सकता है कि वे आंकड़ों में भी दर्ज न हों।

हमारे साथ यह क्या घटित हुआ है? यह एक विषाणु है। हां है, तो? इतनी-सी बात में तो कोई नैतिक ज्ञान निहित नहीं है। निश्चित रूप से यह विषाणु से कुछ ज्यादा है। कुछ लोगों का मानना है कि यह हमें होश में लाने का ईश्वर का तरीका है याकि यह दुनिया पर कब्जा करने का चीन का षड्यंत्र है। चाहे जो हो, उस विषाणु ने सबको घुटनों पर ला दिया है। दुनिया जिस तरह कभी ठहरी नहीं थी, वैसे ठहर गई है।

सब 'सामान्य स्थिति' का असामान्य इंतजार कर रहे हैं। भविष्य को अतीत के साथ रफू करने की कोशिश में लगे हैं। इस घोर हताशा के बीच ही यह हमें एक अवसर दे रहा है कि हमने अपने लिए जो यह विनाशकारी मशीन बनाई है, उस पर पुनर्विचार करें।

वैश्विक महामारियों ने हमेशा इंसान को अतीत से आगे निकलने और अपने लिए एक बिल्कुल नई दुनिया की कल्पना करने को बाध्य किया है। यह महामारी भी वैसी ही है। यह उस दुनिया और अगली दुनिया के बीच का मार्ग है– प्रवेश-द्वार! हम चाहें तो अपने पूर्वाग्रहों और नफरतों, अपनी लोलुपताओं, अपने डेटा बैंकों, मृत विचारों, मृत नदियों और धुंआ-भरे आसमानों की लाशों को अपने पीछे-पीछे घसीटते हुए इसमें प्रवेश कर सकते हैं या फिर यहां का सब कुछ यहीं छोड़कर, हल्के होकर नई दुनिया की कल्पना और उसके लिए संघर्ष की तैयारी कर सकते हैं।

(मशहूर लेखिका और बुकर पुरस्कार विजेता अरुंधति रॉय के इस लेख का अनुवाद शैलेश ने किया है। 'जनचौक ब्लॉग' से साभार)

*

जरा सुनिए मिलॉर्ड!

देश का 'लॉकडाउन' बाद में हुआ, हमारी न्यायपालिका ने पहले ही खुद को परदे के पीछे कर लिया। जब देश को और नागरिकों को सबसे ज्यादा जरूरत थी, हमारी न्यायपालिका ने उसे निहत्था कर दिया। जो संविधान का नमक खाते हैं वे नमक का हक अदा करते नजर नहीं आए। ऐसा पहली बार नहीं हुआ। महात्मा गांधी ने, जो खुद एक सफल बैरिस्टर थे, कहा हैः जब भी संकट की निर्णायक घड़ी आएगी, न्यायपालिका व्यवस्था के साथ जा खड़ी होगी। ...क्या उनकी कई भविष्यवाणियों की तरह यह भी सच हो रही है?

न्यायपालिका का यह रवैया उन सबको भी नागवार गुजरा है जो सर्वोच्च न्यायालय के 'बार' के वरिष्ठ सदस्य हैं। उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय को एक खुला पत्र लिखा है, जो उन सबका प्रतिनिधित्व करता है जो दलीय प्रतिबद्धताओं से अलग, लोकतंत्र के प्रति अपनी गहरी प्रतिबद्धता स्वीकार भी करते हैं और उसे अभिव्यक्त भी करते हैं

बहुत पीड़ा और निराशा से भरे हैं हम; और भारत के नागरिक तथा भारतीय न्याय-व्यवस्था के 'बार' के वरिष्ठ सदस्य होने के नाते यह पत्र आपको लिख रहे हैं। हम मानते हैं कि इस देश के नागरिकों के मौलिक अधिकारों और स्वाधीनताओं की रक्षा में हमारे उच्चतम न्यायालय की एक

निर्णायक संवैधानिक भूमिका है, खासकर उस विशाल आबादी के संदर्भ में, जो गरीबी रेखा के करीब या नीचे अथवा न्यूनतम मजदूरी के दायरे में जीती है। सर्वोच्च न्यायालय की यह संवैधानिक भूमिका तब और भी महत्वपूर्ण हो जाती है जब पूरा देश और उसकी अर्थव्यवस्था आज जैसे संकट में घिर जाती है। केंद्र सरकार के एक आदेश के साथ ही 24 मार्च 2020 से पूरा देश 'लॉकडाउन' में पड़ा है। यह सच्चाई हम जानते हैं कि भारत के 75% कामगार अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र में अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं। मझोले, लघु या माइक्रो सेक्टरों में आर्थिक कारोबार पर ताला लगने का एक ही मतलब होता है कि इन सबकी आजीविका और गुजारे के सारे रास्ते तुरंत बंद हो गए। इन गरीबों, खासकर बड़े शहरों में मजदूरी करके पेट पालने वालों के लिए 'सोशल डिस्टेन्सिंग' एक असंभव कल्पना है। इन सबका कोई ख्याल किए बिना 24 मार्च को 'लॉकडाउन' थोप दिया गया और इन गरीबों के पास छोटी-संकरी झोपड़पट्टियों में ठुंसकर या फुटपाथों पर रहने के सिवा कोई चारा नहीं रह गया। यही नहीं, रोजगार या दो जून की रोटी की व्यवस्था कर पाना भी उनके लिए दूभर हो गया। इसलिए वे अपने बच्चों, बुजुर्गों, परिजनों के साथ, कई मामलों में हजारों मील दूर अपने गांवों-घरों की ओर पैदल चल पड़ने को मजबूर हो गए। वे मजबूर इसलिए हो गए कि केंद्र सरकार के 'लॉकडाउन' के आदेश ने उन्हें इतना भी मौका नहीं दिया कि वे अपने घरों तक जाने के लिए रेलगाड़ियां या बसें पकड़ पाते।

प्रवासी मजदूरों की ऐसी दुर्दशा को लेकर एक जनहित याचिका सर्वोच्च न्यायालय में तुरंत ही दाखिल हुई 'अलख आलोक श्रीवास्तव बनाम भारत सरकार' के नाम से इसकी सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भारत सरकार के प्रतिनिधि, विद्वान सॉलिसिटर जनरल द्वारा दाखिल 'स्टेटस रिपोर्ट' पर विचार किया। इस रिपोर्ट में 29 मार्च को जारी उस सरकारी परिपत्र का हवाला दिया गया है जिसमें प्रवासी मजदूरों की आवाजाही या उनकी यात्रा पर रोक लगाते हुए उन्हें राहत शिविरों में भर्ती कराने के निर्देश दिए गए हैं। सॉलिसिटर जनरल द्वारा अदालत में दिए गए उस बयान को भी रिपोर्ट में शामिल किया गया है जिसमें वे कहते हैं कि 31 मार्च को स्थिति यह थी कि "कोई भी प्रवासी श्रमिक अपने गांव-शहर पहुंचने के लिए सड़क पर पैदल नहीं चल रहा था।" सर्वोच्च न्यायालय ने 31 मार्च 2020 को जारी अपने आदेश में कोविड-19 वायरस से लड़ने के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों पर संतोष प्रकट किया और यह टिप्पणी भी की कि "शहरों में काम कर रहे मजदूरों का पलायन इस फर्जी खबर से पैदा हुई अफरातफरी के कारण शुरू हुआ कि 'लॉकडाउन' तीन महीने से ज्यादा लागू

रहेगा"। इस मामले में हस्तक्षेप करने में न्यायालय की विफलता के कारण लाखों प्रवासी मजदूर तब अपने घरों की ओर प्रस्थान न कर सके, जब कोविड से संक्रमण के मामले कुछ सैकड़ा ही थे। संकरे घरों में रहने को मजबूर कर दिए गए इन गरीब कामगारों को संक्रमित होने की अत्यंत खतरनाक परिस्थिति में डाल दिया गया। इससे भी बड़ा सच यह है कि सरकारी बयान तथ्यों के भी विपरीत है। कई रिपोर्टें बताती हैं कि कई राज्यों में 90% प्रवासी कामगारों को सरकारी राशन नहीं मिला और वे भूखों मरने के कगार पर पहुंच गए।

मार्च में हस्तक्षेप करने में सर्वोच्च न्यायालय की विफलता का परिणाम मई शुरू होने तक लाखों मजदूरों के पलायन के रूप में सामने आया। वे छह हफ्ते से लगभग कैद वाली घुटन में जीते-जीते परेशान हो गए थे। तब तक देश में कोविड से संक्रमण के मामले 50 हजार से ज्यादा हो चुके थे जिनमें प्रवासी मजदूरों की भी बड़ी संख्या शामिल थी। ऐसी स्थिति में भी सरकार ने शुरू में तो उन्हें पैदल या ट्रकों से जाने देने में भी बाधा पैदा की। फिर कहीं वह उन्हें बसों और रेलगाड़ियों (श्रमिक स्पेशल) से भेजने के लिए सहमत हुई। लेकिन तब भी उन पर भारी शर्तें थोप दी गईं। उन्हें अपने पैसे से महंगी जांच कराने और मेडिकल प्रमाणपत्र लाने को कहा गया। उन्हें सड़क के रास्ते भेजने का इंतजाम किया तो गया मगर इतना ही कि उन्हें उनके राज्यों की सीमा पर ले जाकर छोड़ दिया गया। उनके राज्य उन्हें आगे उनके घर तक पहुंचाने का इंतजाम करने को तैयार नहीं हुए। ऐसा लग रहा था मानो यह एक देश और एक नागरिकता वाला देश ही नहीं है। इन लाखों बदकिस्मत गरीबों के जीने, स्वतंत्र रहने, और कहीं आने-जाने के बुनियादी अधिकार को जैसे अर्थहीन बना दिया गया।

सर्वोच्च न्यायालय की तीन जजों की एक पीठ ने 15 मई 2020 को उस अर्जी को खारिज कर दिया जिसमें मांग की गई थी कि सर्वोच्च न्यायालय सभी जिला मजिस्ट्रेटों को तुरंत यह निर्देश दे कि वे सड़कों पर पैदल यात्रा कर रहे मजदूरों की पहचान करें, उन्हें उपयुक्त भोजन और आश्रय दें और उन्हें अपने-अपने राज्य तक निःशुल्क पहुंचाने की व्यवस्था करें। इस अर्जी के औचित्य पर बिना कोई विचार-विमर्श किए ही उसे खारिज कर दिया गया और सारे मामले को राज्य सरकारों के भरोसे छोड़ दिया गया। हम आदर के साथ कहना चाहते हैं कि सरकारी बयानों के प्रति आपका ऐसा श्रद्धाभाव, और ऐसी अकल्पनीय मानवीय त्रासदी के प्रति न्यायालय की स्पष्ट उदासीनता को यदि तुरंत सुधार नहीं लिया जाता है तो माना जाएगा कि इन लाखों गरीब, भूखे श्रमिकों के प्रति अदालत ने अपने संवैधानिक दायित्व और फर्ज

से मुंह मोड़ लिया है।

सरकार द्वारा थोपे गए 'लॉकडाउन' के संदर्भ में न्यायालय आत्मप्रशंसा की चादर ओढ़कर, लाखों भारतीय नागरिकों, खासकर गरीब और अभावग्रस्त नागरिकों को कार्यपालिका के रहमोकरम पर नहीं छोड़ सकता। अदालत का यह रवैया जबलपुर के उस एडीएम की याद दिलाता है, जिसने "हीरे जैसे चमकदार और सख्त" कैदियों को इस उम्मीद के साथ अधिकारियों के भरोसे छोड़ दिया था कि उनके लिए कुछ-न-कुछ किया जाएगा।

इस अदालत को संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत यह अधिकार हासिल है कि वह मुकम्मिल इंसाफ दिलाने के लिए कोई भी उपाय कर सकती है। यह अदालत अपनी असहायता का बयान करके अपने ही इस उद्देश्य-वाक्य 'यतो धर्मस्ततो जय' के साथ न्याय नहीं करती है। हमारा मानना है कि भारतीय लोकतंत्र और कानून के शासन का भविष्य, खास तौर से इस कोविड महामारी के दौर में, इस बात पर निर्भर है कि न्यायालय अपने संवैधानिक दायित्वों को कितनी सक्रियता से निभाता है।

प्रवासी मजदूरों की समस्या आज भी ज्यों-की-त्यों है। वे लाखों की तादाद में सड़कों पर, रेलवे स्टेशनों और राज्यों की सीमाओं पर अटके हुए हैं। सर्वोच्च न्यायालय से हमारी अपील है कि वह हस्तक्षेप करे और केंद्र व राज्य सरकारों को आदेश दे कि वे पर्याप्त परिवहन साधन, मुफ्त भोजन और आश्रय की व्यवस्था तुरंत करें। ऐसे कठिन समय में हमें मार्टिन लूथर किंग जूनियर के ये शब्द याद आ रहे हैं—'नाइंसाफी एक जगह भी होगी, तो वह हर जगह इंसाफ के लिए खतरा होगी।'

निवेदक :

पी. चिदंबरम, आनंद ग्रोवर, इंदिरा जयसिंह,
मोहन कटाकी, सिद्धार्थ लूथरा, संतोष पॉल, महालक्ष्मी पवानी,
कपिल सिब्बल, चंदर उदय सिंह, विकास सिंह, प्रशांत भूषण,
इकबाल छागला, अस्पी चिनॉय, मिहिर देसाई, जनक द्वारकादास,
रजनी अय्यर, यूसुफ मुछाला, राजीव पाटील, नवरोज सिरवाई,
गायत्री सिंह, संजय सिंघवी।

(० अंग्रेजी से अनुवादः अशोक कुमार)

*

कोरोना और गांधी-जन

राहत का काम तब बड़ी राहत देता है जब वह कभी-कभार करना होता है; राहत का काम तब अपना मतलब खोने लगता है जब वह नियमित का काम बन जाता है। 60' के दशक के अंत-अंत में बिहार में पड़ा था भयंकर सूखा और उससे पैदा हुआ था अकाल! लाखों जिंदगियां दांव पर थीं। जयप्रकाश नारायण अपनी सारी ताकत समेट कर उससे जूझने उतर पड़े थे। देश ही नहीं, दुनिया भर में उनकी इस पहल की गूंज उठी थी, देश-दुनिया से सिमट-सिमटकर बिहार पहुंचने लगे थे राहत के स्वयंसेवक (कर्मचारी या एनजीओ नहीं!) और राहत की सामग्री। और तब बनाया गया था राहत का एक बड़ा नागरिक प्लेटफॉर्म– बिहार रिलीफ कमिटी!

नागरिक स्तर पर उस पैमाने का राहत अभियान शायद ही कभी, कहीं आयोजित किया गया हो। अकाल का दायरा इतना बड़ा था, दम तोड़ती जिंदगी की गिनती इतनी बड़ी थी और संभावित खतरा इतना घनघोर था कि उसका मुलाबला किसी जयप्रकाश के उत्कट व्यापक प्रयास से ही किया जा सकता है, यह समझकर राज्य व केंद्र, दोनों ही सरकारों ने इसी राहत अभियान के साथ खुद को भी जोड़ लिया था। सरकारी और गैर-सरकारी की रेखा मिट गई थी। तब आलम ऐसा था कि बहुत बिगड़ कर भी राजनीति मूंछों की लड़ाई में पूरी तरह बदली नहीं थी। जयप्रकाश की आंधी में ठहरने का अवकाश किसी के पास नहीं था। कई महीनों की अथक मेहनत से अनगिनत जानें बचाई गईं। संकट टला, काम पूरा हुआ। जेपी ने कहाः अब हमें बिहार रिलीफ कमिटी भंग कर देनी चाहिए और समाज परिवर्तन के अपने मूल काम की तरफ लौट चलना चाहिए। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सब तरफ से दबाव पड़ा कि रिलीफ का काम तो आता ही रहता है तो बिहार रिलीफ कमिटी का मंच बना ही रहे और उसी मंच से रिलीफ का आगे भी काम हो। जयप्रकाश ने तब कुछ उदासी से कहा थाः जिस समाज में रिलीफ की भी स्थायी संस्था बना कर रखनी पड़े, उस समाज की बीमारी का अंदाजा

लगाना कठिन नहीं है। आज सारी दुनिया का बीमार समाज देखकर हमें उनकी टिप्पणी का सार समझ में आता है।

राहत का हर मौका दो संदेश देता हैः एक तो यह कि किसी समाज पर कोई अप्रत्याशित विपदा आई है; और दूसरा यह कि वह समाज अप्रत्याशित संकटों से निबटने के लिए तैयार नहीं है। फिर पहला काम हो जाता है इंसान की, और साथ ही दूसरे सभी प्राणियों की जान बचाना। और फिर समाज की आंतरिक बुनावट, राजनीतिक प्रतिबद्धता, संसाधनों की उपलब्धता आदि के सवाल आते हैं।

हमारे देश में कोविड का पहला मामला जनवरी के अंत में केरल में मिला था। वहां से यह चला तो फिर कहां-कहां नहीं पहुंचा! यह विपदा प्राकृतिक भी है, मनुष्यकृत भी और टेक्नोलॉजी जनित भी। प्रकृति ऐसे वायरस बनाती रही है, बना रही है; सरकारें दुनिया भर की प्रयोगशालाओं में अपने वैज्ञानिकों से ऐसे प्रयोग करवाती रही हैं, करवा रही हैं कि जिनसे इन वायरसों का युद्ध और व्यापार में इस्तेमाल हो सके। चीन के वुहान में ऐसा ही कुछ हो रहा था, जहां से यह विषाणु बाहर निकला। निकला तो सारी सरकारों को पता चला, सबने अपनी-अपनी राजनीतिक सुविधा से उसका प्रत्युत्तर दिया, और जब हाथ से बात निकलती दिखाई दी तो अपने बचाव का और लोगों के प्रति अपनी जवाबदेही से बचने का एक ही रास्ता सबको मिला - 'लॉकडाउन' करो यानी सबको घरों में बंद कर दो और चरम भय फैला दो! सारी दुनिया में यही ढर्रा दिखाई देता है। कोई कहता हैः सारी दुनिया में ऐसा ही किया गया तो इसका मतलब है कि इसके सिवा रास्ता ही नहीं है। एक तो यह मानना ही मूढ़ता है कि जो सब करते हैं वह सही होता है। सच एक आदमी के पास भी हो सकता है बल्कि होता रहा है। दूसरी बात यह कि लॉकडाउन करके और इतना गहरा भय फैलाकर आपने पाया क्या? कोराना का आना रोक सके आप? कोरोना का फैलना रोक सके आप? कोरोना से होने वाली मौतें रोक सके आप? आप ऐसा कुछ भी नहीं कर सके; किया तो इतना ही कि लोगों की आजीविका असंभव बना दी। और अब जब आजीविका का वह संकट आपका दामन छूने पहुंच रहा है तो आप लोगों को शराब पिला रहे हैं, मॉल और होटलों में भेज रहे हैं, अपने उद्योग-धंधों में झोंक रहे हैं, रेल व जहाज चलवा रहे हैं जब कि संक्रमण की दर तीव्रतर होती जा रही है, मौतों का आंकड़ा बड़े-से-बड़ा होता जा रहा है। जब सावधानी के साथ सीधा मुकाबला करना ही एकमात्र रास्ता था और है, तब इतनी देर क्यों की? न जान बची, न माल!

आपने हर संभव माध्यम से डर फैलायाः प्रधानमंत्री को सुनो कि कहीं फोन करो, डराए बिना दोनों आगे बढ़ते ही नहीं थे। कभी ऐसा था कि जब भी फोन करो, भारतीय जनता पार्टी और मोदीजी का संदेश सुनना अनिवार्य बना दिया गया था। अब कोरोना संदेश सुनना अनिवार्य हो गया है। दोनों ही सत्ता की ताकत से हमारे नागरिक अधिकारों पर प्रच्छन्न हमला है। किसी अदालत ने इसका संज्ञान लिया क्या? इस संवैधानिक कोरोना ने भी डर फैलाने का ही काम किया। लेकिन सभी डरे भी नहीं थे, सभी रुके भी नहीं थे।

इस पूरे दौर में गांधी-परिवार ने क्या किया? हम चाहते थे कि इसकी एक परिपूर्ण तस्वीर **गांधी-मार्ग** के पाठकों तक पहुंचाई जाए लेकिन परिपूर्णता कभी सधती नहीं है और जानकारियां कभी समय से पहुंचती नहीं हैं। हमारे सामने यह भी साफ रहा है कि गांधी-परिवार का मतलब गांधी-संस्थाएं मात्र नहीं हैं, हर वह व्यक्ति और समूह जो गांधी-मूल्यों से खुद को जुड़ा पाता है, आज गांधी-परिवार का सदस्य है।

काल-क्रम देखें तो नागरिकता आंदोलन (या सी.ए.ए., एन.आर.सी. विरोधी आंदोलन) से सारा देश नागरिकता के संबंध में सरकारी अवधारणा के विरोध में उठ खड़ा हुआ। उसे इस लड़ाई के दो हथियार मिले– महात्मा गांधी और संविधान। देश भर का गांधी-परिवार इस आंदोलन से जुड़ा भी और प्रतिबद्ध भी हुआ। दिल्ली विधानसभा का चुनाव भी इसी दौरान आया और सत्ताधारी दल ने उसे हिंसा व सांप्रदायिकता के रंग में रंगने की हर संभव कोशिश की। दिल्ली उच्च न्यायालय ने इस पर आपत्ति भी उठाई और जस्टिस एस. मुरलीधरन ने पुलिस को तुरंत कानूनी कार्रवाई का निर्देश भी दिया लेकिन केंद्र सरकार ने रातोरात दिल्ली उच्च न्यायालय से उनका तबादला कर, कानून का रास्ता विफल कर दिया। इसके बावजूद सत्ताधारी दल को चुनाव में मिली हार। इस हार की कड़वाहट मिटाने के लिए एक सांप्रदायिक दंगा रचा गया।

दंगे ने शांति स्थापना और राहत पहुंचाने की दोहरी चुनौती खड़ी कर दी। नागरिकता आंदोलन के युवकों और नागरिकों ने यह चुनौती भी स्वीकार की। कहना चाहिए कि भारतीय समाज की प्रौढ़ता का यह ऐसा उदाहरण था कि जिस पर किसी को भी गर्व हो सकता है। और तभी कोरोना ने हमला किया। आंदोलन-दंगा-राहत-महामारीः ऐसे चतुर्भुज से तब घिर गया था देश। कहना होगा कि इस चतुर्भुज के हर कोण को परख कर गांधी-जनों ने अपनी जिम्मेवारी निश्चित की और निभाई। कोरोना-काल में सबसे बड़ी चुनौती बनी लोगों की जान बचाना! 'लॉकडाउन' ने लोगों को जहां-तहां बंद

ही नहीं कर दिया, उन तक खाना-पानी पहुंचाने का रास्ता भी बंद कर दिया। यह राहत के काम का एक नया ही स्वरूप था जिसमें राज्य राहत करने नहीं दे रहा था और लाचार लोग एक-एक निवाले के लिए बेजार हुए जा रहे थे।

यह भी खासा उल्लेखनीय है कि राहत का सारा सामान, अनाज, पका हुआ भोजन, दवाएं और नकद पैसा सब कुछ समाज से मिल रहा था। लोगों ने दिया और हमने लोगों तक पहुंचाया– कुल यही कहानी हर जगह की रही।

बा-बापू फूड ड्राइव- इंडिया के नाम से एक नई ही पहल आरिश मुहम्मद फैजान, अंजुम खान व साथियों ने जितनी उत्कटता से शुरू की और जिस ईमानदारी व साहस से उसे निभाया उस न्याय-विवेक को मैं कभी भूल नहीं सकता। **खुदाई खिदमतगार-हिंद** के साथियों की पहल से बनी इस टोली ने राहत के काम में एक नई ही चमक पैदा कर दी। अनाज, मास्क, सैनिटाइजर से लेकर पका भोजन तक, नकद सहायता से लेकर सामान तक सबका वितरण चलता रहा। कठिन ड्यूटी पर तैनात पुलिसवालों तक भी जरूरत का सामान पहुंचाया गया। जब 'लॉकडाउन' ने किसी भी नागरिक प्रयास का चलना असंभव-सा कर दिया तब भी इस टोली ने इंटरनेट की आधुनिक तकनीक का इस्तेमाल कर लोगों तक पहुंचना और राहत पहुंचाना जारी रखा।

ऐसी ही हैरानी में मुझे डाल दिया जम्मू-कश्मीर में काम करने वाली संस्था **गांधी ग्लोबल फैमिली** ने। डॉ. एस.पी. वर्मा के कुशल नेतृत्व में इस संगठन ने जम्मू-कश्मीर में राहत पहुंचाने का काम जिस तरह किया वह देखे बिना विश्वास करने जैसा नहीं था। जम्मू-कश्मीर की स्थिति सारे देश से भिन्न थी। एक तरफ राजनीतिक स्वार्थ की कुटिलता थी जो जन और मन, दोनों को तार-तार कर देने की हर संभव कोशिश में लगी थी, और लगी हुई है; और दूसरी तरफ कोरोना का अंधकार था। गांधी ग्लोबल फैमिली के सदस्यों ने ऐसी हालत में लगातार जरूरतमंदों तक अनाज-हरी सब्जियां आदि पहुंचाने का काम चलाया। कश्मीर घाटी में **माहजबीन** ने भी अपनी छोटी मित्र-मंडली के साथ राहत का काम चलाया।

फैजल खान का **खुदाई खिदमतगार** कोई छोटा काम तो उठाता ही नहीं है। वह हर काम को एक तहरीक में बदल देता है। खुदाई खिदमतगार ने एक माह तक चल सकने वाले बड़े और छोटे 'राशन किट' तैयार किए, जहां संभव हुआ वहां किचन भी खुलवाया, दवाएं भी पहुंचाईं और श्रमिकों के भेजने की व्यवस्था में भी हिस्सा लिया, नकद राहत भी दी। राहत का काम दिल्ली से शुरू हुआ तो फैलता हुआ सारे देश में पहुंचा और हजारों को समेट

लाया। एक तरफ आप फैजल भाई के खुदाई खिदमतगार का यह संगठित काम देखिए तो दूसरी तरफ **राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय** के उत्तम सिन्हा और उनके परिवार की नितांत निजी पहल देखिए। राजघाट और उसके आसपास बड़ी संख्या में श्रमिक भी और फुटपाथ आदि पर जीवन बसर करने वाले लोग भी फंस गए थे। उत्तमजी और उनकी पत्नी ने सहज मानवीय प्रेरणा से अपने घर में उनके लिए थोड़ा खाना बनाने की बात की। खाना बना भी और बंटा भी। फिर सिलसिला ही चल पड़ा। 25 अप्रैल से यह शुरू हुआ तो 23 मई तक लगातार चलता रहा। निधि परिसर में रहने वाले संस्थानों के युवा साथियों ने वितरण में मदद की तो **गांधी निधि, गांधी संग्रहालय, हिमालय सेवा संघ, प्राकृतिक चिकित्सालय** के वरिष्ठ जनों ने सहायता का हाथ बढ़ाया। निजी तौर पर दूसरे साथियों ने भी मदद की। बाद के दिनों में भी सूखा चना आदि जरूरतमंदों में बांटा गया। एक जरूरी काम सबके साथ आने से संभव हुआ।

गांधी शांति प्रतिष्ठान केंद्रीय कार्यालय से भी और देश भर के इसके केंद्रों से भी राहत का काम किया गया। नागरिकता आंदोलन के साथ दिल्ली के हम साथियों का पूरा जुड़ाव रहा। फिर चाहे शाहीनबाग हो या जामिया मिल्लिया या दिल्ली में सीएए विरोधी आंदोलन के दूसरे केंद्र, सबके साथ गांधी शांति प्रतिष्ठान, गांधी निधि और गांधी संग्रहालय का जुड़ाव रहा। इनके समन्वय की कई बैठकें गांधी शांति प्रतिष्ठान के सभागृह में ही होती रहीं। मेरी पूरी कोशिश रही कि युवाओं ने जिस गांधी के नाम से यह प्रतिरोध खड़ा किया है उस गांधी से उनका अधिकाधिक परिचय हो। **राष्ट्रीय युवा संगठन** के दिल्ली के संयोजक **राजीव** ने इसमें खासी पहल की और जामिया के आंदोलन-स्थल पर **हिंद-स्वराज्य** व दूसरे गांधी-साहित्य की प्रदर्शनी भी लगी। पुलिस के अत्याचार से टूट-फूट गई जामिया की लाइब्रेरी के सामने युवाओं ने जब अपनी लाइब्रेरी शुरू की तो वहां गांधी-साहित्य भी रखा गया और **गांधी:150** के संदर्भ में तैयार किए गए 100 पोस्टरों की प्रदर्शनी भी लगाई गई। गांधी शांति प्रतिष्ठान की केंद्र समन्वयक **रूपल** ने कई दिनों तक जामिया की सभा में सांध्य सर्वधर्म प्रार्थना का क्रम चलाया। फिर दिल्ली में सांप्रदायिक दंगा फूटा तो हम सभी इसमें शांति की पहल करने उतरे तथा दंगा पीड़ितों के बीच राहत वितरण का काम भी हमने किया। वह काम अभी गति भी पकड़ नहीं पाया था कि कोरोना का हमला हुआ और हम सबने अपनी पूरी ताकत लाचार लोगों तक मदद पहुंचाने में लगाई। यह सब तब तक चलता रहा जब तक 'लॉकडाउन' ने कुछ भी कर सकना असंभव नहीं

कर दिया। हमने अपनी कैंटीन से भी कुछ जरूरतमंदों को भोजन देने का काम किया।

जब यह समाचार आने लगा कि सरकार नागरिकों से राहत कार्य में सहयोग देने की अपील कर रही है तो हमने दिल्ली सरकार को यह लिखित प्रस्ताव भेजा कि गांधी शांति प्रतिष्ठान के पास एक परिपूर्ण रसोईघर है। अगर सरकार हमें कच्चा राशन दे तो हम निःशुल्क अपने यहां से भोजन-पैकेट बना कर दे सकते हैं और सरकार अपनी वितरण-व्यवस्था से उसे जरूरतमंदों तक पहुंचा सकती है। हमारा प्रस्ताव यह भी था कि सरकार के पास वितरकों की कमी हो तो हम उनके ही वाहन से भोजन बांटकर आने को भी तैयार हैं। यह प्रस्ताव नौकरशाही के जंगल में घूमता-भटकता लंबे अरसे बाद मुख्यमंत्री कार्यालय पहुंचा और फिर हमें जवाब मिला कि ऐसे समयोचित प्रस्ताव के लिए हम आपके आभारी हैं और आवश्यक काररवाई के लिए यह विभाग को भेजा जा रहा है। लेकिन कई स्तरों पर कोशिशों के बाद भी वह प्रस्ताव सरकारी जंगल से बाहर नहीं आ सका। फिर आया श्रमिकों की वापसी का संकट! लंबे समय तक तो सरकार यह तै ही नहीं कर पाई कि ये हमारे श्रमिक हैं या विदेशी आक्रमणकारी! उनकी पूरी कथा इसी अंक में आप पढ़ेंगे लेकिन जब सरकार ने उनकी वापसी की थोड़ी जिम्मेवारी अपनी भी मानी और कुछ बयान व कुछ आदेश-निर्देश यहां-वहां पहुंचे तो हमने बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान व दिल्ली सरकार को फिर एक प्रस्ताव भेजा कि वापसी की योजना में श्रमिकों व सरकार की मदद के लिए गांधी शांति प्रतिष्ठान तैयार है। आप दिल्ली में भी और जिन राज्यों में भी हमारे केंद्र हैं उन राज्यों में भी गांधी शांति प्रतिष्ठान को अपना संदर्भ-केंद्र (नोडल एजेंसी) बनाएं तथा हमारे साथ बैठ कर श्रमिकों की वापसी का पूरा ढांचा तैयार करें। प्रस्ताव का स्वागत सभी राज्यों ने किया, आगे कुछ भी नहीं किया। जहां पैसों व कमीशन की बात हो वहां हमें पीपीपी मॉडल बहुत रास आता है, जहां प्रतिबद्धता के साथ नागरिकों का सहयोग लेने की बात आती है, हमें ठेकेदारी के अलावा कुछ सूझता नहीं है। कई साथियों की मदद से हमने एक राहत कोष का प्रारंभ भी किया जिसमें ऑनलाइन दान की व्यवस्था भी थी। इस कोष में अब तक कोई 2 लाख रुपये आए हैं।

गांधी शांति प्रतिष्ठान के अपने केंद्रों को मैंने लिखा था कि अभी आदमी की जान बचाने और समाज में सांप्रदायिक सौहार्द बनाए रखने की दोहरी चुनौती हमारे सामने है। राहत के हमारे काम की गांधी-कसौटी यह है कि उससे आदमी भी बचे और उसका समाज भी बने। मैंने सुझाया था

कि हमारा हर केंद्र हर दिन 25 भूखे घरों को खाना खिला सके, ऐसी तैयारी हम करें और वह खाना 25 घरों से आए ऐसी योजना हमारी हो। साधारणतः हिसाब लगाता हूं तो पता चलता है कि हमने ऐसा किया होता तो पिछले 90 दिनों के 'लॉकडाउन' में हमारे हर केंद्र के पास कम-से-कम 2250 घर ऐसे होते जिन्हें हमने भूख से बचाया और 2250 घर ऐसे होते जिनकी मदद से हम ऐसा कर सके होते। मतलब यह होता कि हमारे हर केंद्र के पास 4500 नये लोगों की सद्भावना और सहयोग का आधार बन गया होता। जयप्रकाश कहते थे कि क्रांति जोड़ से नहीं, गुणा से चलती है। तो इसका गुणात्मक योग कितना होता, यह हिसाब हम सभी लगाएं।

अहमदाबाद केंद्र ने **संवेदना ट्रस्ट** के साथ जुड़ कर **हंसमुख भाई** के मार्गदर्शन में व्यापक काम किया। बनासकांठा जिले के आदिवासी इलाकों से लेकर गुजरात के शहरी इलाकों तक हमारे साथी पहुंचे और हजारों लोगों को भोजन के साथ-साथ जरूरत के दूसरे सामान भी पहुंचाए। अहमदाबाद के वाडज की बस्तियों में रोजाना 1500 लोगों को भोजन कराया गया। गुजरात के साथियों ने यह भी सावधानी रखी कि प्रशासन के जनहित के कामों की उपेक्षा न हो। 'लॉकडाउन' के पालन में उन्होंने प्रशासन की मदद की और लोगों को भी उसके प्रति जागरूक बनाया। साथियों ने बैंक के कामों में, मोबाइल रिचार्ज करवाने में, बाल काटने से लेकर श्रमिक स्पेशल में पंजीकरण करवाने तक में नागरिकों की मदद की। घर लौटते 3000 से अधिक श्रमिकों को भोजन किट दिया गया, तो दूसरी तरफ राजस्थान से बिहार जा रहे 32 श्रमिकों के रहने-खाने की व्यवस्था की गई और फिर श्रमिक स्पेशल में उनका पंजीकरण करवाया गया।

मेघरज के **बंसी भाई** व साथियों ने सरकारी राशन केंद्र की निगरानी भी की और अनाज, मास्क, सेनिटाइजर आदि का व्यापक वितरण भी किया। इतने साथियों-संगठन के साथ इतना व्यापक काम करने के बाद अहमदाबाद केंद्र का आकलन है कि आने वाले दिनों में गांवों में लड़ाई-झगड़े बहुत बढ़ेंगे क्योंकि गांवों में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग आ पहुंचे हैं जो जगह-जमीन पर अपने हक का दावा करेंगे; और शहरों में लूट-पाट, चोरी, छीना-झपटी की घटनाएं बढ़ेंगी क्योंकि शहरी बेरोजगारी विकट समस्या बनकर सामने आएगी।

दक्षिण भारत के हमारे अधिकांश केंद्रों ने स्थानीय परिस्थिति को देखते हुए अपनी भूमिका निर्धारित की और उसे पूरा किया। केरल के कोजिकोड (कालिकट) केंद्र ने केरल की विशेष स्थिति व परंपरा की जानकारी भेजते हुए लिखा कि केरल में कम्यूनिटी किचन का चलन हर जगह है जहां से

जरूरतमंदों को अच्छा खाना दिया जाता है। बनाने, बांधने और बांटने की व्यवस्थाएं भी सरकार द्वारा बनाई गई हैं। इसलिए सारे सामाजिक संस्थान सरकार को उसके ऐसे कार्यक्रमों में मदद करते हैं। कोजिकोड के साथी भी सरकारी प्रयासों को मदद करने की भूमिका में रहे।

कर्नाटक के धारवाड़ केंद्र के सचिव **बसवप्रभु** ने लिखा है: हमारे जिले में पका हुआ खाना बांटने पर प्रतिबंध है। इसलिए जिला प्रशासन ने सभी सामाजिक संगठनों से कहा है कि वे अपने यहां जमा अनाज उसे दे दें ताकि उसे जरूरतमंदों तक पहुंचाया जा सके। 'लॉकडाउन' में प्रशासन ने हमें 10 पास जारी किए थे जिनके आधार पर हम जनता के बीच जा सके और हमने 550 रुपये कीमत के 100 किट वितरित किए जिसमें अनाज के अलावा रोजमर्रे की जरूरत के सामान तथा मास्क थे। अब तक गांशांप्र को कोरोना के काम के लिए दान में 70,000 रुपये मिले हैं।

ओडिशा के राउरकेला केंद्र के **बैद्यनाथ दास** ने बताया कि वे सब वहां व्यापक तौर पर अनाज किट बांटने का काम कर रहे हैं।

राष्ट्रीय युवा संगठन के युवाओं ने अपनी-अपनी जगह पर राहत का व्यापक काम किया। मध्यप्रदेश के **राम कुमार** और **अजमत** बताते हैं कि जब 1 दिन के जनता कर्फ्यू की घोषणा हुई तब यह अंदाजा ही नहीं था कि चुनौती इतनी बड़ी, गंभीर और लंबी है! धीरे-धीरे सारा मामला साफ होता गया और तब यह समझ में आया कि लोगों के लिए काम करना है लेकिन लोगों के बीच नहीं जाना है; लोगों की जान बचानी है लेकिन देह से दो गज की दूरी बनाकर रखनी है; भूख मिटानी है लेकिन भूखे के पास नहीं पहुंचना है; हमें घरों में बंद रहना है लेकिन घर के बाहर जो हैं उनको मदद पहुंचानी है! यह सब बहुत टेढ़ा ही नहीं था, बहुत सारहीन भी था। लोगों का अभिक्रम शून्य कर, लोगों को असहाय करने की यह नीति हमें समझ में नहीं आई। हमने रायुसं के लिए तै किया कि हम जहां हैं वहां राहत के काम का अपना ढांचा खड़ा करेंगे और पूरी सावधानी रखते हुए जान बचाने की हर संभव कोशिश करेंगे।

अपने गांव-मुहल्ले से पका या सूखा खाद्यान्न जुटाना, स्थानीय स्वंयसेवी संस्थाओं, नागरिकों से संसाधन जुटाना और निकटतम के जरूरतमंदों तक उन्हें पहुंचाना - काम का यह स्वरूप बना और हम चल पड़े। राजस्थान के कोटा में **जगदीश कुमार** ने हड़ौती किसान यूनियन के साथ मिल कर बनाया गेहूं बैंक। बैंक में आया 320 क्विंटल गेहूं! गांव के जरूरतमंद परिवारों को इस बैंक से लगातार मदद पहुंचाई गई। पाटन तहसील के पास से गुजरने

वाले हाइवे से जाते श्रमिकों को रोजाना 200 पैकेट पका भोजन बांटा गया। मध्यप्रदेश के शहडोल, उमरिया, अनुपपुर और भोपाल में साथियों ने राहत का काम इस तरह संयोजित किया कि हमारी सहायता वंचित समुदायों तक पहुंचे। **जन स्वास्थ्य सहयोग, विकास संवाद, आशा, जेनिथ फाउंडेशन, आदर्श महाविद्यालय** जैसे संस्थानों ने पूरा सहयोग किया। अनुपपुर में रायुसं की लड़कियों ने 1600 मास्क सिले और 600 स्वदेशी साबुन बनाया जिनका वितरण लगातार चलता रहा। अजमत ने बताया कि सरकारी राशन केंद्रों से लोगों को समय से व पूरा राशन मिले, इसकी निगरानी भी हमने की।

भोपाल में **कलावती** जैसी साथियों ने उन सब संस्थाओं-व्यक्तियों और बाहर से आकर वहां फंसे श्रमिकों की सूची तैयार की जिनके आधार पर **राम कुमार** व **अजमत** 250 श्रमिकों से लगातार संपर्क बनाकर उनकी सहायता कर सके। भोपाल के साथियों ने महाराष्ट्र के साथियों को यह जानकारी भेजी कि पुणे से 53 श्रमिकों का जत्था, जिसमें महिलाएं, बुजुर्ग व बच्चे बड़ी संख्या में हैं, सागर व दमोह के लिए 1200 किमी के पैदल सफर पर निकला है और अब वह रांझण गांव पहुंच रहा है। रांझण गांव में रहते हैं रायुसं के साथी **शिवाजी खेडकर**। बात उन तक पहुंचाई गई और शिवाजी ने उन सबको संभाल लिया। उनके रहने-खाने की व्यवस्था बनाई और 40 दिनों तक उन्हें रखा। मीडिया, प्रशासन सबमें इसकी चर्चा हुई और आखिर 7 मई को वे सभी श्रमिक उरली स्टेशन से श्रमिक स्पेशल में बिठाए गए और 9 मई को वे सब अपने घर पहुंचे।

ओडिशा में 14 अप्रैल से काम शुरू हो सका। रायुसं के राष्ट्रीय संयोजक **विश्वजीत** के मार्गदर्शन में भोजन बनाकर बांटने का काम शुरू हुआ, जो 700 लोगों को रोजाना खिलाने तक पहुंचा। **उत्कल गांधी स्मारक निधि** और **गांधी शांति प्रतिष्ठान** के साथ मिल कर यह काम इस तरह आगे बढ़ा कि कटक के पुलिस अधीक्षक व प्रशासन ने भी इसका सहयोग किया। राहत के काम से जुड़ी दो लड़कियों को लगा कि खाने वालों में केवल ओडिया लोग ही नहीं बल्कि दूसरे भी रहते हैं, सो हमें रोटी भी देनी चाहिए। लेकिन इतनी सारी रोटी बेले कौन, तो जवाब भी उन्होंने ही दिया। अपने पिता के साथ मिलकर उनने घरों से रोटियां जमा करने का काम किया और सैकड़ों रोटियों की व्यवस्था लगातार हुई। इस काम में मदद करने, पैसा व साधन पहुंचाने कितने ही अनजान लोग सामने आए। फिर आया घरों की ओर पैदल जाते श्रमिकों का संकट, और उसमें से ही यह कल्पना भी सामने आई कि इनका सफर थोड़ा आसान बनाने के लिए क्यों न इनके रास्तों में जगह-जगह ऐसे आरामगाह बनाए जाएं जहां ये रुक सकें,

खाना-पानी ले सकें और आराम कर फिर आगे जाएं। श्रावण के महीने में उत्तर भारत में कांवड़िए जल चढ़ाने निकलते हैं तो उनके लिए आराम व रुकने के लिए रास्ते भर पड़ाव बनाए जाते हैं। उसी में से विश्वजीतजी को यह कल्पना सूझी और उन्होंने इस तरह के कुछ केंद्र बनाए। ओडिशा में यह प्रयोग सफल भी रहा और उपयोगी भी रहा। उन्होंने जाते हुए श्रमिकों को भोजन-पानी ही नहीं दिया बल्कि एक पर्चा भी दिया जिसमें गांधी की कल्पना की आत्मनिर्भरता की एक तस्वीर खींची गई थी। ओडिशा के साथियों ने यह भी कोशिश की कि राज्य द्वारा श्रमिकों को घर भेजने की व्यवस्था में राज्य की मदद करें ताकि श्रमिकों को कुछ सहूलियत हो। लेकिन हमारा लोकतंत्र लोक व राज्य के बीच ऐसे तालमेल के मुकाम तक पहुंचा ही नहीं है। इसलिए श्रमिकों को राज्य के द्वार तक पहुंचाने की यह पहल रोक दी गई। रायुसं बाकी जगहों पर ऐसा प्रयोग दोहरा नहीं सका लेकिन दूसरे कुछ संगठनों ने कुछ जगहों पर ऐसे प्रयोग किए।

हजारों कि.मी. की तकलीफ व लाचारी से भरी पैदल यात्रा की पीड़ा सड़क किनारे खड़े होकर पानी और भोजन बांटने से समझी नहीं जा सकती है। रायुसं के साथियों को जब यह लगा और यह भी महसूस हुआ कि श्रमिकों की इस पीड़ा को जी कर देखे बिना भोजन बांटना अधूरा काम है तो उन्होंने **कटक से भुवनेश्वर तक की पैदल यात्रा** निकाली। यह पैदल यात्रा बहुत छोटी थी और लाचारी में से नहीं निकली थी बल्कि अहसास में से निकली थी फिर भी साथियों को बहुत कुछ सिखा गई। **कृष्णा मोहंती** तथा **जस्टिस मनोरंजन मोहंती** का अनुभवसिद्ध सहकार रायुसं के साथियों को मिलता रहा। अंगूल जिला के बाजीराउत छात्रावास में रायुसं के साथियों ने 25 मार्च से राहत अभियान शुरू किया। ये लोग 100 लोगों को रोजाना भोजन दे रहे हैं और अब तक खुद बनाकर 500 मास्क भी लोगों में वितरित कर चुके हैं।

कोरोना का संकट जैसे-जैसे लंबा हो रहा है, बहुत सारे नये साथी भी नये प्रयासों में जुट गए हैं। उनकी जानकारियां अभी आ ही रही हैं। यह हिसाब भी किया जाना चाहिए कि सर्वसाधनसंपन्न सरकारों ने उस समाज की कितनी, कैसी और कब मदद की जिसके वोट से वह बनती है और जिसके नोट से वह चलती है; और उस समाज ने अपनी पहल से अपनी कितनी, कब और कैसे मदद की जिसके पास न कोई अवसर छोड़ा गया था, न जिसका कोई अपना संगठन है, न जिसके पास अपना कहने जैसा कोई साधन-कोष है। लेकिन हम आदमी थे; और आदमी तो आदमी ही होता है!

*

कलम की नोक पर

आत्मनिर्भर

० संपत सरल

मेरी रचना का शीर्षक है– विदेशियो आओ, हमें आत्मनिर्भर बनाओ!

प्रधानसेवक ने लोकल से वोकल बनें, कह कर होमवर्क दिया और उनके निट्ठले भक्त काम पर लग गए। एक छद्म राष्ट्रवादी ने अपने चाइनीज मोबाइल से, मेरे कोरियाई मोबाइल पर, इंग्लैंड की भाषा में, अमरीकी व्हाट्सएप द्वारा मैसेज भेजाः भारत को आत्मनिर्भर बनाना है! सोचा, मैसेज चाइना में बनी सरदार पटेल की 'स्टैच्यू ऑफ यूनिटी' वाली मूर्ति को फॉरवर्ड कर दूं लेकिन यह मानकर नहीं किया कि मूर्तियां मैसेज नहीं पढ़तीं।

विपक्ष में थे तो हांकते थे कि भारत को सोने की चिड़िया बनाना है, सरकार में आये तो बोलने लगे कि विश्वगुरू बनाना है; और अब कह रहे हैं कि आत्मनिर्भर बनाना है। मारे कन्फ्यूजन के मेरी हालत उस स्टूडेंट जैसी हो गई है जिसने साल भर साइंस पढ़ी और परीक्षा में पेपर 'एंटायर पॉलिटिकल साइंस' का आ गया। जिन्होंने 51% एफडीआई के खिलाफ जमीन-आसमान एक किया था, उन्होंने सत्ता मिलते ही 100% एफडीआई लाद दी। आवाजें उठने लगी हैं कि चरखे वाले ने देश को जिन जबड़ों से छुड़ाया था, चायवाले ने फिर उन्हीं के हवाले कर डाला!

स्वदेशी जागरण मंच वाले एक सज्जन ने शिकायत की कि जिसे हमने स्वदेशी के मुद्दे पर सिंहासन तक पहुंचाया, वह विदेशी कंपनियों के लिए सब कुछ निजी करने में बिजी है। घर-घर में घुस गये मल्टीनेशनल; और सवाल उठाओ तो एंटीनेशनल! हम तो सबसे ज्यादा ठगे गये!! ...मैंने कहाः इसमें अनहोनी क्या है? कहावत ही है कि लंगड़ी डाकिन घरवालों को पहले खाती है।

लाखों बेहाल मजदूर सड़कों पर पैरों से पैदल हैं और सरकार दिमाग से! प्रधानमंत्री ने 35 मिनट के वाणी-विलास में दुखियारों की चर्चा तक नहीं की। यहां यह भी बताता चलूं कि लफ्फाजी को शुद्ध हिंदी भाषा में 'वाणी

विलास' कहते हैं।

वित्तमंत्री का राहत पैकेज तो उस अतिरिक्त समझदार गृहिणी जैसा लगा जो दूध उफनने पर गैसे बंद नहीं करती है, घर का दरवाजा बंद करती है। याद रखना, ये छालों भरे लाखों पैर जिंदगी भर पीछा करेंगे जब तुम कुर्सी से उतर जाओगे। इतिहास गवाह है, रथों पर सवार होकर जो धरती को रौंदते हैं, समय पलटने पर उन्हीं रथों के पहिये उन्हें रौंदते हैं।

खुशखबरी है कि भारत आत्मनिर्भर होने के नुस्खे बिल गेट्स से पूछ रहा है। शरद जोशीजी तो पहले ही कह गये हैं कि हमारे वित्तमंत्रालय को चाहिए कि कोलंबस की एक मूर्ति अपनी ऑफिस के सामने लगाये। यदि वह अमरीका नहीं खोजता तो हम उधार कहां से लाते!!

लेखक व्यंग्यकार ही नहीं है, प्रभावी व्यंग्यपाठी भी हैं।

*

टिप्पणियां

तपती धूप में

गली में कोई आवाज लगा रहा था, दाल ले लो ...चावल ले लो।

''ओ भैया! कैसे दे रहे रहे हो? "तीसरी मजिल से एक महिला ने आवाज लगाई थी। वह आदमी अपनी साइकिल पर तीन कट्टे चावल और हेंडिल पर दो थैलों में दाल लादे था।

"चावल चालीस का किलो है और मसूर सत्तर की किलो है।"

"रुको मैं नीचे आती हूं," "कहकर महिला नीचे आने लगी। वह साइकिल लिए धूप में खड़ा रहा । कुछ देर बाद वह बाहर आई, "अरे! भैया, तुम लोग भी न हमें खूब चूना लगाते हो। चालीस रुपये किलो तो बहुत अच्छा चावल आता है और दाल भी महंगी है ... सही-सही भाव लगा लो!"

"बहिन जी, इससे कम में न दे सकूंगा। आप जानती नहीं हैं कि चावल और दाल को पैदा होने में सौ से एक सौ बीस दिन लगते हैं। एक किलो चावल पर बीस-तीस लीटर पानी लगता है। हर दिन डर लगा रहता है कि कुछ अनहोनी न हो जाए मौसम की! चार महीने पसीना बहाने के बाद भी कई बार फसल के दाम नहीं मिलते। किसे फिक्र है कि हर साल दो लाख किसान मर जाते हैं? हमारे पास आप जैसे बड़े मकान नहीं, सुविधा के सामान नहीं। खुद ही निकल पड़े हैं इस लोहे के घोड़े पर लादकर।"

"सब जानती हूं भैया... वहां स्टोर में तो सस्ता मिलता है," वह अपनी बात ऊपर करते हुए बोली।

"बहिन जी, दो रुपए किलो का आलू चार सौ रुपये किला चिप्स में, बीस रुपये किलो का चावल पैकेट में बंद कर सात-आठ सौ रुपये किलो और हमारी अस्सी रुपये किलो की मिर्च पीसकर डिब्बों में कर दें और तीन चार सौ रुपये किलो...ये सब आपको सस्ती लगती।... नहीं दे सकेंगे जी!" वह आगे बढ़ने लगा।

"लगता है तुम टी.वी. खूब देखते हो!" महिला बोली।

"हां, कभी-कभी देखते हैं अपना मजाक बनते! खेती की जमीन पर कब्जे, पानी का नीचे जाता स्तर, खाद-बीज के बढ़ते भाव और किसानों की बेइज्जती! वहां कोई बड़ा आदमी करोड़ों लेकर भाग जाए तो कुछ नहीं, हम कर्ज न चुका पाएं तो बैंक दीवार पर नाम का नोटिस चस्पां कर देती है। सबके सामने बेइज्जती कुर्की होता है। बहिन, चांदी तो

बिचौलिये काट रहे हैं।"

"लगता है राजनीति भी जानते हो तुम!"

जब देश की नदियां सूख जाएंगी, जंगल खत्म हो जाएंगे, खेत नहीं, इमारतें भर रह जाएंगी तब इंसान रोटी के टुकड़ों के लिए लड़ेगा...मगर तब तक बहुत देर हो चुकी होगी ...फिर ये फैक्टरियां भूख मारने की दवाई बनाएंगी या एक -दूसरे को मारने की गोलियां!" वह बोला।

"बात तो पढ़े-लिखे जैसी कर रहे हो भैया! कहां तक पढे हो?"

"सरकारी कालेज से बी.ए. किया है, पर हमारे लिए नौकरी नहीं है। हम अपनी भाषा में जो पढ़े हैं। यहां तो सबको चटर-पटर अंग्रेजी चाहिए और ससुर गाली देंगे अपनी भाषा में। अनपढ़ करेंगे राज तो होगी ही मेहनतकश पर गाज," वह अपना पसीना पोंछते हुए बोला।

"वोट तो तुम भी देते हो न।"

"वोट भी हम देते हैं, जान भी हम देते हैं, भीड़ भी हम होते हैं और मरने को सेना में भी हम ही जाते हैं। नारा लगाते हैं... जय जवान-जय किसान और हो गए महान!" वह बोला।

धूप बहुत तेज थी सो सीधे सवाल किया, "बहिनजी! कितना लेना है?"

"पांच किलो चावल और दो किलो दाल।" महिला दाल देखते हुए बोली।

"ठीक है, दस रुपया कम दे देना कुल पैसे में," और उसने साइकिल स्टैंड पर खड़ी कर दी। महिला उसका लाल तमतमाया हुआ चेहरा देखती रही। वह सामान तोलने लगा।

"लो बहिनजी, आपका सामान तोल दिया।

महिला ने सामान लिया और बोली, "ऊपर जाकर पैसे देती हूं भैया।"

कुछ देर बाद एक टोकरी उसने लटका दी जिसमें उसके पूरे पैसे थे। एक पानी की बोतल थी और कुछ लपेटकर रखा था।

उसने पैसे और पानी ले लिया।

"बहिनजी, आपने ज्यादा पैसे रख दिये हैं। दस रुपये काटे नहीं," वह चिल्लाया।

"पहले खाना ले लो ...समझना मैंने रुपये ले लिए ....तुमने बहिन कहा है मुझे, खाना जरूर खाना।'' उसने वहीं बैठकर खाना शुरू कर दिया था। तीसरे मंजिल से कुछ टपका था मगर तपती धूप में दिखा नहीं था। हथेलियों पर राहत की दो गरम बूंदें आत्मीयता के मोतियों-सी बिखर गई। टोकरी धीरे-धीरे कर ऊपर चली गई और उसके हाथ ऊपर उठ गए दुआ में एक अनजान बहन के लिए।

सारः किसानों व मजदूरों के साथ आत्मीयता एवं सम्मान से पेश आएं।

*

पत्र

गांधी-मार्ग अभी-अभी मिला - जनवरी-फरवरी 2020! प्रशांत भाई, यह अंक तो बहुत ही शानदार बना है! सच, बहुत शानदार!!

जया मित्रा, पुरुलिया (बंगाल)

मार्च-अप्रैल का अंक आपने ऑनलाइन भेजा, इसके लिए बहुत आभार! **गांधी-मार्ग** का मिलना हमेशा मार्ग के मिलने जैसा लगता है लेकिन यह अंक तो खास कर दिल को छू गया। इस संक्रमण से मुक्ति मिले तो गांधी-मार्ग के आजीवन पाठक बनाने का एक सिलसिला ही चलाऊंगा— खास कर युवकों तक इसे पहुंचाने की जरूरत है।

-अदीप, बोकारो (झारखंड)

अगर हम गांधी को जानते हैं, उन्हें पढ़ते हैं तो ऐसा हो ही नहीं सकता है कि विनोबा को नहीं जानें। मुझे रामकृष्ण परमहंस और नरेंद्र याद आते हैं। नरेंद्र बार-बार छूट कर भागते थे लेकिन रामकृष्ण ने उन्हें छोड़ा ही नहीं। उन्होंने नरेंद्र को पहचान लिया था। यही नरेंद्र स्वामी विवेकानंद के नाम से विख्यात हुए। गांधी और विनोबा के बीच ऐसा कुछ नहीं हुआ। दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना और फिर आजन्म छोड़ा नहीं। जैसे दोनों एक-दूसरे के लिए ही बने थे।

मैंने विनोबा को इतना ही जाना-पहचाना था या फिर गांधी द्वारा वर्धा में बुलाई गई बैठक तक। उसके बाद के विनोबा से मेरा परिचय नहीं हुआ। लेकिन देश और इसके लाखों गांवों की जनता तो विनोबा में अपने गांधी को लगातार देख, सुन और समझ रही थी। उनके लिए वे ही 'गांधी बाबा' बने रहे। फिर विनोबा से मेरा परिचय उनकी लिखी 'गीता प्रवचन' से हुआ। मैं तब शायद स्कूल या फिर कॉलेज में था। गीता से भी यही मेरा पहला परिचय था। मुझे विनोबा के भू-दान यज्ञ की कोई जानकारी नहीं थी। धुंधली से जो कुछ अब याद है, वह सकारात्मक तो नहीं ही थी। फिर मिला **गांधी-मार्ग** का सितंबर-अक्तूबर 2019 का अंक। पहली बार उस विनोबा से परिचय हुआ जिन्हें हम सर्वोदय और भू-दान यज्ञ के प्रणेता के रूप में जानते हैं। बचपन की वह धुंधली, नकारात्मक छवि साफ ही नहीं हो गई, चमक भी उठी। एक नये युग-पुरुष से परिचय हुआ। **गांधी-मार्ग** का अतिशय आभार।

महेश लोधा, कोलकाता(बंगाल)

*

...जाता वर्ष पूछता है...

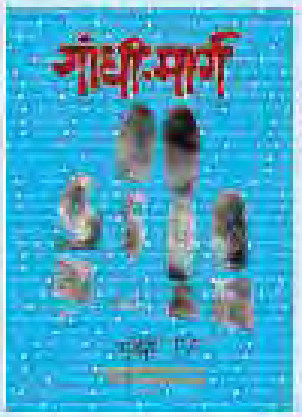

'गांधी : 150' में क्या किया ?

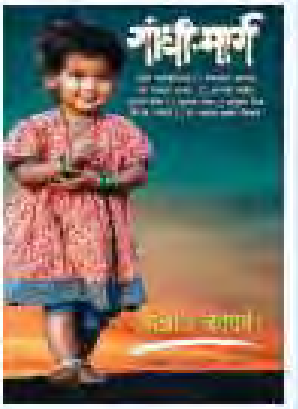

- ☐ हर माह 'गांधी-मार्ग' का 1 ग्राहक बनाया?
- ☐ 'गांधी-मार्ग' पढ़कर संपादक को अपनी राय लिखी?
- ☐ अपना 'गांधी-मार्ग' किसी दूसरे को पढ़ने के लिए दिया?

गांधी-मार्ग

सिर्फ पत्रिका नहीं, गांधी विचार का हथियार है!
ऊपर के तीन कदम चलिए, गांधी के सिपाही बनिए!!

गांधी मार्ग का वार्षिक शुल्क

भारत में एक वर्ष के लिए 200 रु., दो वर्ष के लिए 350 रु.
आजीवन 1000 रु. (व्यक्तिगत), 2000 रु. (संस्थागत)

ऑनलाइन भी आप शुल्क दे सकते हैं :
खाता संख्या : 015810103039 2
(केनरा बैंक, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2)
आईएफसी कोड : CNRB 0000158

रजिस्टर्ड नं. 4545/57

गांधी 150

- बिस्तर के नीचे पड़े सांप की जब तक हमें खबर न हो तब तक, और केवल तब तक ही हम निश्चिंत होकर सो सकते हैं।
- इस जहरीले साथी का पता चलते ही जैसे हम चौंक उठते हैं ठीक वैसी ही स्थिति हमारी होनी चाहिए।
- अब तो हमारा एक मिनट भी आराम से बैठे रहना पाप है।
- जो कानून नीति-विरुद्ध है, अनीति का पोषण करता है, वह कानून कानून नहीं है।
- ऐसे कानून का आदर करना अनीति में हिस्सा लेने के समान है।
- हमारे हाथ में सरकारी सत्ता तो नहीं है लेकिन हमारे हाथ में इससे कहीं अधिक बड़ी सत्ता है। वह सत्ता है दुखी आत्माओं की गंभीर पुकार! प्रत्येक स्त्री-पुरुष इस पुकार को सुनें तथा अपना कर्तव्य निभाएं।

(नवजीवन, 7.09.1919)